एक और नीलांजना

[जैन पुराकथाएं : एक आधुनिक प्रयोग]

वीरेन्द्र कुमार जैन

भारतीय ज्ञानपीठ

द्वितीय संस्करण पर

'एक और नीलांजना' को निकले अभी पूरे दो वर्ष भी नहीं हुए कि उसका यह द्वितीय संस्करण आपके हाथ में है। 'आम आदमी' और 'भोगा हुआ यथार्थ' की नारे-बुलन्दी के आलम में इन पुराकथाओं के खो जाने का खतरा ही अधिक था। मगर हकीकत यह है कि आज के भीषण यथार्थ का प्रतिक्षण भुक्त-भोगी आम आदमी ही इन कथाओं का सर्वोपरि पाठक है। और उसी पाठक-वर्ग की माँग पर यह दूसरा संस्करण इतनी जल्दी सम्भव हुआ है। स्थापित उच्चस्तरीय कहलाती हमारी समीक्षा के मानदण्ड तो इतने अवास्तविक, घिसे-पिटे और भोथरे हो चुके हैं कि वे आम आदमी के यथार्थ जीवन, अनुभव-संस्कार और समझ से बहुत दूर पड़ गये हैं। आम आदमी को तो यह पता तक नहीं, उसकी चेतना और पुकार की कैसी छद्म, अलगाववादी, गलत और भ्रामक तसवीर साहित्य में पेश की जा रही है।

पौराणिक रोमांस 'मुक्तिदूत', प्रस्तुत पुराकथा-संग्रह 'एक और नीलांजना' और उसके उपरान्त 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर', सर्वसाधारण जागृत पाठक से लगाकर उच्चस्तरीय प्रबुद्ध भारतीय पाठक तक की चेतना में इतनी गहराई से व्यापते चले जा रहे हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। इसका कारण यह है कि बाह्य व्यवस्थागत सतही क्रान्ति इतनी अनिश्चित और विफल सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य उस ओर से निराश हो आया है। वह उसे अविश्वसनीय लगती है; उसमें उसे अब अपनी मुक्ति की सूरत और सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती। हर वाद, दल या राजसत्ता जिस इतिहास-व्यापी दुश्चक्र में फँसी है, उसका एक अवचेतनिक अहसास और साक्षात्कार

मनुष्य को हो चुका है। उसे प्रतीति हो चुकी है कि राजनीति का लक्ष्य और जो कुछ भी हो, यह तो नहीं हो पा रहा कि समाज सुखी हो और व्यक्ति अपने को सार्थक होता पाये। यह एक ऐतिहासिक साक्षात्कार है, जिसके साक्षात्कारी आम लोग हैं, पाठिकवर्ग या अन्य विशेष वर्गों के लोग नहीं। बाहरी दुनिया की इस नग्न और कुरूप वास्तविकता को ठीक आँखों आगे पाकर, मनुष्य आपोआप भीतर की ओर मुड़ चला है। वह अब अपनी सुरक्षा और शान्ति, वास्तविक सुख की भूमि तक अपने ही भीतर खोजने को विवश हो गया है। आज का यह सर्वहारा मनुष्य अपनी आत्मा की तलाश में है। अब वह अपने ही अन्तरतम में कोई ऐसा निश्चल केन्द्र खोज रहा है, जिसके उजाले में वह अपनी सारी अन्तरबाह्य समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सके।

मेरी ये पौराणिक कृतियाँ मानव इकाई की उसी सर्वथा स्वाधीन, भीतरी तलाश की प्रतीक-रूपकात्मक परिणतियाँ हैं। अपनी भीतरी अन्तरिक्ष और अनुभव-संसार की उसी अन्वेषण-यात्रा में से ये कथाएँ उतरी हैं। इसी से देखता हूँ कि आज का अभिनिवेशों और आरोपित धारणाओं से मुक्त सहज पाठक मेरी इन कृतियों की ओर मुग्ध मन से आकृष्ट हो रहा है। भीषण यथार्थ की त्रासदी को उलीचने वाले तथाकथित जनवादी और आम-आदमी के साहित्य से वह अब ऊब गया है। उसे यह सब निरा पिष्टपेषण और दुहराव लगता है। उसकी आशा-आकांक्षा, स्वप्नों और आत्मिक पुकार का अचूक उत्तर उसे इस कृत्रिम और सतही साहित्य में नहीं मिल रहा। वह उस साहित्य की तलाश में है जो उसकी निपीड़ित, गुमशुदा चेतना को अन्तश्चेतना के मौलिक जीवन-स्रोतों से जोड़ सके। बाहरी सामुदायिक प्रयत्नों के अनिश्चित और अविश्वसनीय कूटचक्रों से उसकी चेतना को उबारकर, जो उसे अपने ही भीतर स्वाधीन रूप से जीने को कोई अचूक ठौर, आधार और सहारा दे सके।

मेरे पास आने वाले मेरे पाठकों के अनगिनत पत्रों से मुझे बारम्बार केवल यही प्रमाण मिला है कि मेरी इन मिथकीय कृतियों से उन्हें जीवन

का अर्थ और प्रयोजन साक्षात्कृत होता है, और जीने के लिए एक शक्ति और अवलम्ब प्राप्त होता है। उनकी अनेक उलझनें इन रचनाओं को पढ़ते हुए अनायास सुलझ जाती हैं। 'एक और नीलांजना' के इस द्वितीय संस्करण को प्रस्तुत करते हुए, मैं अपने ऐसे सच्चे भाविक पाठकों के प्रति अपनी आत्मिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

1 जनवरी, 1976 —वीरेन्द्र कुमार जैन

उद्भावना

प्रश्न उठता है, आज के जीवन-सन्दर्भ में पुराकथा की क्या सार्थकता है ? क्या वह परम्परा की शाश्वती चैतन्यधारा में प्रतिष्ठित उदात्त और ऊर्ध्वमुखी मानव-प्रतिभा की महत्ता को ध्वस्त करने के लिए, आज के प्रतिवादी लेखक [illegible] विधातृ शक्ति भी है ? उत्तर में पर 'मुक्तिदूत' की एक चिन्मति पाठिका, 'शोलापुर कॉलेज' की प्राध्यापिका कुमारी मयूरी शाह के एक पत्र की कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं :

"...आपका 'मुक्तिदूत' मेरी टेबल पर सदैव रहता है। फुरसत के समय चाहे जब पन्ना उलटती हूँ, और पढ़ती ही चली जाती हूँ। गत कई वर्षों में कितनी बार उसे पढ़ा होगा, कहना कठिन है। ...पता नहीं कैसे, बचपन से ही 'मुक्तिदूत' ने मेरे मन पर अमिट प्रभाव छोड़ा है। मेरा चैतन्य और जीवन उसी में से मानो आकार लेता चला गया है। इसमें तिल मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है।...

"लगता है 'मुक्तिदूत' ही मेरा जीवन-साथी है। मेरे सबसे भीतरी अकेलेपन को उसने भरा है। 'मुक्तिदूत' की अंजना और वसन्त दीदी ही तो मेरी शाश्वत सहेलियाँ हैं। जीवन में आनेवाली विपदाओं और समस्याओं का धीरज से सामना करने में, 'मुक्तिदूत' की अंजना ने ही तो मुझे सबसे अधिक शक्ति और सहारा दिया है।...मैं नृत्य करती हूँ निस्सन्देह। लेकिन कब ? जब 'मुक्तिदूत' का भावलोक बादल बनकर मेरे हृदय के आकाश में छा जाता है, तो मेरे भीतर की मयूरी आनन्द-विभोर होकर नाचने लगती

है। तब वह भरत-नाट्यम् होता है या और कोई नृत्य-प्रकार, मुझे नहीं मालूम।...

"इसी प्रकार 'तीर्थंकर' मासिक में प्रकाशित आपकी कथाओं ने मेरे जीवन में कितना गहरा आध्यात्मिक रस सींचा है, कितनी आत्मिक शक्ति मुझे दी है, कह नहीं सकती। अब आपके उपन्यास 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' की बड़ी व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रही हूँ। मुझे निश्चित प्रतीति है कि आपका यह ग्रन्थ संसार-भर के साहित्य में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करेगा। वह अनन्त काल रहेगा। एक अज्ञात बहन की शुभेच्छा में यदि कोई शक्ति है, तो वह सदा मेरे भाई के पीछे खड़ी है, और झूठ नहीं होगी...।"

बहन मयूरी का यह पत्र उन सैकड़ों पत्रों का प्रतिनिधि है, जो मुझे 'मुक्तिदूत' पर, और 'तीर्थंकर' मासिक में प्रस्तुत कथाओं के प्रकाशन काल में मुझे मिलते रहे हैं। हजारों पाठकों को शक्ति और सम्बल देनेवाली, उनकी चेतना और जीवन को बदल देनेवाली, साहित्य की इस ऊर्ध्वोन्मेषिनी, निर्मातृ, रूपान्तरकारी शक्ति का क्या कोई मूल्य नहीं ? क्या आज की जलती वास्तविकता का महज ज्वलन्त आलेखन ही साहित्य का एक मात्र 'फंक्शन' (कर्तृत्व) है। सीमित देह-मन की अज्ञानिनी भूमिका पर सदा घटित हो रही, जीवन की ट्रैजेडी, विषमता और कुरूपता को, एक 'हॉण्टिंग' सर्जनात्मक गुणवत्ता से नग्न करना ही, क्या साहित्य की एकमेव उपलब्धि है ? क्या अन्तिम प्रश्न-चिह्न आँकने और समस्याओं के जंगल खड़े कर देने पर ही साहित्य समाप्त है ? क्या आत्म-द्रोह, लक्ष्यहीन विद्रोह, नाराबुलन्दी और पतन, पराजय, कुण्ठा की कलात्मक उलटबाँसियों से आगे साहित्य नहीं जाता ? कोई साहित्य यदि लक्ष-लक्ष मानव आत्माओं को संघर्ष करने की ताकत दे, उनके चिर निपीड़क प्रश्नों, समस्याओं और उलझनों का समाधान करे, उन्हें उद्बुद्ध करे, जीवन और मुक्ति की कोई अचूक नयी राह उनके लिए खोल दे, तो क्या उसका कोई मूल्य नहीं ? क्या वह घटिया साहित्य है ? क्या उसकी कोई उच्च सृजनात्मक और कलात्मक उपलब्धि

नहीं ? यदि है तो मेरे इस पौराणिक कथा-सृजन ने उसमें बेशक ऐसी सिद्धि प्राप्त की है, जिसका मुझे भी अभी पूरा अन्दाज नहीं है। निश्चय ही एक नित-नव्य, चिर प्रगतिमान नूतन चेतना और मनुष्य के सृजन की दिशा में मेरे इस विनम्र कृतित्व ने किसी कदर सफलता पायी है। आज का आलोचक चाहे तो इसे ही मेरे साहित्य की विफलता मानने को स्वतन्त्र है। भावक भी मेरी इस सफलता के अचोट साक्षी हैं ही। लेकिन असलियत क्या है, उसका निर्णय तो महाकाल की धारा ही करेगी।

बेवजह बौद्धिक घुमाव-फिराव और उक्ति-वैचित्र्य की कलाबाजियों से बात को उलझाना मेरी आदत नहीं। मेरे मन सृजन वह, जो भावक की अब तक अस्पष्ट गहराइयों को हिला दे, उनमें निहित सम्भावनाओं को ऊपर ले आये, उनकी क्रिया-शक्ति को जीवन में संचरित कर दे; जो जीवन और जगत् का एक ऊर्ध्वमुखी, प्रगतिमान निर्माण करे; जो मनुष्य को उसकी अवचेतना के जन्मान्तरव्यापी अन्धकारों, अराजकताओं और उलझनों से बाहर लाये; हर प्रतिकूलता के विरुद्ध अपराजेय आत्म-शक्ति के साथ जूझकर, अपने विकास के लिए अनुकूल; सुखद-सुन्दर, आनन्दमय-संवादी विश्व-रचना करने की सामर्थ्य उसे प्रदान करे।

बेशक, आज मनुष्य सर्वथा दिशाहारा हो गया है। वह सत्यानाश की कगार पर खड़ा है। अन्तहीन अन्धकार में भटकने को वह लाचार छूट गया है। लेकिन यही मनुष्य की अन्तिम नियति नहीं। पीड़न-शोषण, पतन-पराजय, कुण्ठा और अन्धकार से यदि आज का नौजवान नाराज है, तो क्या इसीलिए नहीं कि वह इन्हें अभीष्ट नहीं मानता। इन नकारात्मक परिबलों (फोर्सेज) को पराजित कर, पछाड़कर वह प्रकाश, सौन्दर्य, आनन्द, संवादिता के सुखी विश्व में जीने को बेताब है। अन्धकार कितना ही दुर्दान्त और सर्वग्रासी क्यों न हो, आखिर उसकी सीमा है। प्रकाश की कोई सीमा नहीं। वह सृष्टि की मौलिक और शाश्वती सत्ता है। अन्धकार एक सापेक्ष, नकारात्मक, अभावात्मक अवरोध मात्र है। हम उसे नहीं चाहते, यही प्रमाणित करता है कि वह अनिवार्य नहीं। उसे हट जाना होगा, उसे फट

जाना पड़ेगा। अन्तिम सत्य, मृत्यु नहीं, जीवन है, अनन्त जीवन।

यह सच है कि मौजूदा प्रजातन्त्र सर्वत्र एक छलावा है। सचाई से उसका कोई सरोकार नहीं। वह एक मुखौटा है, खूबसूरत ओट है, कुछ समर्थों और शक्तिशालियों के न्यस्त-स्वार्थों, हितों और व्यवस्था को निर्बाध जारी रखने का सुरक्षा-दुर्ग है। माना कि आज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था और तथाकथित धार्मिकता और नैतिकता कोटि-कोटि निर्बल मानवों के विरुद्ध, मुट्ठी-भर शक्तिमान् सत्ता-सम्पत्ति-स्वामियों का एक अमानुषिक षड्यन्त्र है। लेकिन क्या कविता में उसे कलात्मक गालियाँ देने से, और उस पर व्यंग्य-आक्रमण करने में सारी सृजनात्मकता को चुका देने से ही, उसका उन्मूलन हो जाएगा ? मौजूदा व्यवस्था का जो पैशाचिक पंजा, मानव की सन्तानों को निरा प्रेत बनाये दे रहा है, उनकी आत्माओं को असूझ अन्धकारों में भटकाये दे रहा है, उसका अपनी कला में सशक्त व्यंग्य-विद्रूपात्मक चित्रण मात्र ही क्या साहित्य की इति-श्री है ? वह भी ऐसा साहित्य, जिसे लेखक लिखे, और केवल लेखक-बिरादरी पढ़े, और 'अहो रूपमहो ध्वनिः' करती रहे। इस बीभत्सता का वह सचोट अनावरण और सृजनात्मक बोध क्या उन मानवों तक पहुँच पाता है, जो सच्चे अर्थ में जीवन की नंगी और कुरूप धरती पर इस नरक को भोग रहे हैं ? बल्कि सचाई यह है कि जो सीधे भुक्तभोगी हैं, वे ही इस नर्मकदर्यता के सच्चे साक्षात्कारी हैं। हमारा यह तमाम कलात्मक अनावरण उसके आगे छोटा पड़ जाता है। उनके लिए उनका कष्ट निरा कला-विलास नहीं। उनके लिए वह मृत्यु की रक्ताक्त चट्टान है, और वही जिन्दा रहने के लिए सच्चे अर्थ में उससे जूझते हुए, अविश्रान्त युद्ध कर रहे हैं।

जड़त्व और अन्धकार की इन नकारात्मक शक्तियों के विरुद्ध सतत युद्ध जारी रखने के लिए, जो सर्जक आत्मज्ञान, आत्मप्रकाश और आत्मशक्ति के अचूक शस्त्र युगान्तरों में मानव-प्रजाओं को दे गये हैं, उन्हीं का साहित्य चिरंजीवी और कालजयी होकर आज भी जीवित है। सहस्राब्दियों पूर्व लिखा

जाकर भी, वह आज भी मनुष्य को अपनी विरोधी आसुरी ताकतों के खिलाफ लड़ने की अजस्र प्रेरणा और सामर्थ्य प्रदान कर रहा है। वेद, उपनिषद्, वाल्मीकि, वेदव्यास, जिनसेन, अश्वघोष, होमर, वर्जिल, दान्ते, कालिदास, तुलसीदास, कबीर और तमाम मध्यकालीन सन्तों का साहित्य आज भी इसीलिए जनहृदय में जीवन्त और संचरित है, क्योंकि वह मात्र समकालीन वस्तुस्थिति के ज्वलन्त चित्रण पर ही समाप्त नहीं, वह परिवर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुरूप हर युग में मनुष्य को अन्धकार, मृत्यु, अत्याचार और पीड़न के विरुद्ध जेहाद करके, स्वाधीन मुक्त जीवन जीने और तदनुरूप विश्व-रचना करने की शक्ति प्रदान करता है।

आज प्रश्न यह है कि सही प्रजातन्त्र, उत्तरदायी शासन, कल्याणी व्यवस्था कौन लाये ? क्या कोई उसे थाली में परोसकर हमारे सामने रख देगा ? क्या उसे लाने का दायित्व औरों पर डालकर केवल भोक्ता ही रहने की छुट्टी हमें है ? हर बुराई का दायित्व दूसरों पर टालकर उन्हें गरियाना और मात्र उनका शाब्दिक भंजन करने में व्यस्त रहना ही क्या सच्चा विद्रोह और क्रान्ति कही जा सकती है ? जो राज्य और अर्थ-सत्ता पर बैठे हैं, वे क्या आसमान से उतरे हैं ? वे भी मूलतः हमारी ही तरह कमजोर और सीमित इन्सान हैं। उनकी कमजोरियों और तज्जन्य बलात्कारों को उलटने के लिए हमें खुद पहले उनसे ज्यादा ताकतवर हो जाना पड़ेगा। उनके जैसी ही अपनी प्राणिक दुर्बलताओं और सीमाओं से ऊपर उठकर आत्मशक्ति का स्वामित्व प्राप्त करना होगा।

एक सच्चा प्रजातन्त्र और सही व्यवस्था लाने के लिए, पहले हमें अपने भीतर अपना ही एक आत्मतन्त्र स्थापित करना होगा। केवल सतही व्यवस्था के परिवर्तन से कोई अभीष्ट और स्थायी परिणाम नहीं आ सकता। सारी दुनिया को अपने अनुकूल बदल देने के लिए, पहले हमें खुद अपने को बदलना होगा। एक सही व्यक्ति, इकाई ही सही व्यवस्था ला सकती है। यदि स्थापित और विस्थापक, दोनों वही पक्ष अपनी मूल प्रकृति में एक से कमजोर और गलत हैं, तो सही और आदर्श व्यवस्था

आखिर लाये कौन ? यही तो आज प्रश्नों का एक प्रश्न है। पहल कौन करे और कैसे करे ?

इसी प्रश्न का कोई सम्भाव्य उत्तर खोजने और देने का एक अन्वेषक प्रयास हैं मेरी ये प्रस्तुत पुराकथाएँ, मेरा 'मुक्तिदूत', मेरी कविताएँ, मेरा समूचा कृतित्व। और सम्प्रति महावीर पर लिखे जा रहे मेरे उपन्यास में भी, इसी प्रश्न के एक मूर्तिमान् उत्तर के रूप में 'अनुत्तरयोगी तीर्थंकर महावीर' अवतरित हो रहे हैं।

उपनिषद् के ऋषि ने कहा था : 'आत्मानं विद्धि'। डेल्फी के यूनानी देवालय के द्वार-शीर्ष पर खुदा है : 'नो दाइसेल्फ'। बुद्ध ने कहा था : 'अप्प दीपो भव'। जिनेश्वरों की अनादिकालीन वाणी कहती है : 'पूर्ण आत्मज्ञान ही केवलज्ञान है : वही सर्वज्ञता है : वही अनन्त ऐश्वर्य-भोग है, वही मोक्ष है !' आदि काल से आज तक के सभी पारद्रष्टाओं ने, जीवन के चरम लक्ष्य को इसी रूप में परिभाषित किया है। मानो यह कोई बौद्धिक सिद्धान्त-निर्णय नहीं, अनुभवगम्य सत्य-साक्षात्कार की ज्वलन्त वाणी है। देश-कालातीत रूप से यह एक स्वयंसिद्ध हक़ीक़त है।

अपने को पूरा जानो, तो सबको सही और पूरा जान सकते हो। स्व और पर का सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान होने पर ही, स्व और पर के बीच सही सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। इस विज्ञान तक पहुँचे बिना, व्यक्ति-व्यक्ति, वस्तु-वस्तु और व्यक्ति तथा वस्तु के बीच सही संगति स्थापित नहीं हो सकती। व्यक्तियों, समाजों, वर्गों, जातियों, राष्ट्रों के बीच सम्यक् सम्बन्ध की स्थापना, इसी स्व-पर के सम्यक् ज्ञान के आधार पर हो सकती है। किसी भी सच्ची नैतिकता और चारित्रिकता का आधार भी वही हो सकता है। किसी भी मांगलिक समाज, राज्य, अर्थतन्त्र, प्रजातन्त्र और सर्वोदयी व्यवस्था की सही बुनियाद यही हो सकती है। इस उपलब्धि को स्थगित करके, इससे कमतर किसी भी ज्ञान-विज्ञान द्वारा निर्धारित व्यवस्था और चारित्रिकता, छद्म, पाखण्डी और शोषक ही हो सकती है।

स्व को सही जानना यानी व्यक्ति और वस्तु के मौलिक स्व-भाव को, स्व-रूप को जानना है और स्व-भाव तथा स्व-रूप को जानकर, उसी में जीना सच्चा, सार्थक और सुख-शान्तिपूर्ण जीना है। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि की आचार-संहिताएँ इसी स्वभावगत जीवन-स्थिति को उपलब्ध करने की अनिवार्य आवश्यकता में से निपजी हैं। स्वतन्त्र और शोषण-मुक्त जीवन और व्यवस्था की शर्त है, यह स्व-भाव में जीवन-धारण। यह स्वभाव में जीवन-धारण व्यक्ति से आरम्भ होकर ही विश्वव्यापी हो सकता है। जो व्यक्ति स्वयं स्वभाव और स्वरूप-ज्ञान में नहीं जीते, वे सारी दुनिया में सही जीवन-व्यवस्था लाने का दावा कैसे कर सकते हैं ? ऐसा दावा परिणाम में दाम्भिक, स्वार्थी और विकृत ही सिद्ध हो सकता है। व्यक्ति पहले स्वयं ही स्वभाव में अवस्थित हो, तभी वह सारे विश्व में अभीष्ट रूपान्तर या उत्क्रान्ति उपस्थित कर सकता है। यानी व्यक्ति की आत्मगत और स्वचेतनागत पहल ही सबसे बुनियादी और महत्त्वपूर्ण चीज़ है।

अटूट आत्मनिष्ठा और संचेतन, स्वैच्छिक आत्मदान ही इस पहल का तन्त्र हो सकता है। प्रतिपक्षी के अहंकार, राग-द्वेष, शोषण, अत्याचार के प्रत्युत्तर में हमारे भीतर से प्रति-अहंकार, प्रतिराग-द्वेष, प्रतिशोषण, प्रति-अत्याचार न लौटे। प्रतिक्रिया नहीं, प्रत्याघात नहीं, प्रेम लौटे, प्रभुता लौटे। प्रतिक्रिया नहीं, चैतन्य की शुद्ध और नव्य क्रिया प्रवाहित हो, जिसके आत्म तेजस्वी संघात से विरोधी जड़-शक्ति का समूल विनाश हो जाय।

प्रस्तुत कहानियों की रचना में यही तत्त्व मौलिक रूप से अन्तर्निहित है। इनके पात्र प्रथमतः आत्मान्वेषी हैं, आत्मालोचक हैं, आत्मज्ञान के जिज्ञासु और खोजी हैं। उन्हें प्रथमतः अपनी स्वयं की, अपनी आत्मा की तलाश है। उनमें उत्कट पृच्छा है—कि क्या उनके भीतर कोई ऐसी अखण्ड अस्मिता या इयत्ता है जो क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानसिक अवस्थाओं से परे, कोई ध्रुव, शाश्वत, समरस सत्ता रखती हो, जो तमाम बाहरी हालात,

चढ़ाव-उतारों, संघर्षों, यन्त्रणाओं से स्वयं गुजरती हुई भी, कहीं उनसे अस्पृष्ट रहकर, उत्तीर्ण होकर, अपने साक्षी और द्रष्टाभाव में अविचल रह सकती हो; जो देह-मानसिक स्तर की अज्ञानी भूमिका पर गलत या विसंवादी हो गयी जीवन-व्यवस्था में, अपने भीतर के इस अखण्ड चैतन्य में से पहल करके, संवादिता ला सकती हो, नयी और कल्याणी सृष्टि रच सकती हो।

जैन पुराकथा में ऐसी उपोद्घाती या पहल करनेवाली व्यक्तिसत्ताओं को शलाका-पुरुष कहा गया है। ऐसे स्त्री-पुरुष, जो पहले स्वयं स्वभाव को उपलब्ध होकर, लोक में अपने को एक अचूक मानदण्ड अथवा शलाका के रूप में उपस्थित करें, कि उनके संयुक्त (इण्टीग्रेटेड) व्यक्तित्व, विचार, व्यवहार, आचार से ही लोक में आपोआप एक अग्रगामी अतिक्रान्ति या रूपान्तर घटित होता चला जाय।

ऐसे ही शलाकाधर स्त्री-पुरुष कमोवेश इन सारी कहानियों के पात्र हैं। ऐसे लोग अपने स्वभाव में ही अतिक्रान्त होने के कारण, वर्तमान में जड़, अवरुद्ध और विकृत हो गयी जीवन-व्यवस्था में क्रान्ति लाने को विवश होते हैं, ताकि यह दुनिया उनकी महत् जीवन-लीला के योग्य हो सके। इसी कारण अनिवार्यतः वे विप्लवी, प्रतिवादी, विद्रोही होते हैं। वे प्रथमतः तमाम जड़, रूढ़ियों और गलत व्यवस्थाओं के भंजक और ध्वंसक होते हैं। यानी प्राथमिक भूमिका में वे नाराज नौजवान ही हो सकते हैं। कृष्ण, महावीर, बुद्ध, क्रीस्त, मोहम्मद, कबीर, विवेकानन्द और श्री अरविन्द तक के सारे ही ज्योतिर्धर नाराज नौजवान ही थे। लेकिन प्रथमतः ये अपने में सम्यक् और सम्बुद्ध सम्यक् ज्ञानी थे। इसी कारण वे जड़त्व से प्रसूत आततायी और आसुरी शक्तियों को महज गाली देने और उन पर शाब्दिक प्रहार करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करना 'एफोर्ड' (गवारा) नहीं कर सकते थे। ये बकवास नहीं करते थे, एक ही बुनियादी प्रहार से ये असत्य और असुर का काम तमाम कर देते थे।

'महाभारत' में जगह-जगह श्रीकृष्ण की चुप्पी द्रष्टव्य है। गौर करें

आप। स्वयं ही सुभद्रा का अर्जुन द्वारा हरण करवाकर, हजरत चुप्पे बैठे हैं, यादवों की क्षोभ से कोलाहल करती राजसभा में। इन्द्रप्रस्थ के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल की बकवास को नजरन्दाज करके, नितान्त निर्विकल्प, निर्मम भाव से क्षणमात्र में उसके माथे को अपने चक्र के हवाले कर देते हैं। अभिमन्यु के वध, द्रौपदी के पाँच पुत्रों की अश्वत्थामा द्वारा नृशंस हत्या, और ऐसे ही अन्य भीषणतम अनर्थों के समाचार पाकर भी वे चुप रह जाते हैं। अविचल, तटस्थ, द्रष्टा मात्र। और जहाँ अनिवार्य हो गया, चुपचाप मुस्कराकर, सुदर्शन-चक्र से एक ही वार से, अवरोधक असुर को रसातल पहुँचा देते हैं। वह नितान्त सम्यक् दृष्टि, अक्रोधी, अहिंसक, निर्ममत्व, सर्वत्राता पुरुषोत्तम का प्रहार और संहार है; जो जिसे मारता है उसे भी तार देता है; जो अपने स्वभाव से आत्मस्थ है, स्थितप्रज्ञ है, अपने विचार और व्यवहार में निर्विकल्प और बेहिचक है।

ऐसे ही 'युक्त' व्यक्तित्व के अभीप्सुक, या उसको उपलब्ध स्त्री-पुरुषों की चेतना-प्रक्रिया और जीवन-लीला को मैंने प्रस्तुत कहानियों में रचने का एक प्रयास-भर किया है। यही सच्चे अर्थों में आध्यात्मिकता है, आध्यात्मिक भाव से जीना और बरतना है। यही स्वभाव-स्थिति है, यही स्वरूपाचरण है। मनुष्य की इस मूलगत आध्यात्मिक चेतना को मैंने इन कहानियों में मनोविज्ञान प्रदान किया है। अभी और यहाँ के सन्दर्भों में मैंने इन आत्मस्थ स्त्री-पुरुषों को घटित किया है। वे अपने जीवन के पल-पल के विचारों और वर्तनों में, जीवन को उसकी मौलिक सत्ता के परिप्रेक्ष्य में पढ़ते हैं, जाँचते हैं, खोलते हैं, जीते हैं। वे जीवन की गुत्थियों और समस्याओं को उसी सत्ता की रोशनी में विश्लेषित करते हैं, सुलझाते हैं और उसके सन्तुलन के काँटे पर फिर उसे संश्लेषित करते हैं। वे जीवन की तमाम कामना-कांक्षाओं को, परिस्थिति, संघर्ष, प्रेम-प्रणय, काम और हर सम्भव उपलब्धि को, सत्ता की इसी स्वभावगत परिणति के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं। हर नयी स्थिति में उन पर नयी रोशनी डालते हैं। उन्हें नया आयाम और समाधान देते हैं। इसी से ये चरित्र जीवन की हर स्थिति

और पल में पहल करते दिखाई पड़ते हैं।

इन कहानियों का अगर कोई नया सर्जनात्मक मूल्य हो सकता है तो यही कि, गीता में जिस 'युक्त पुरुष' को, 'इण्टीग्रेटेड मैन' की बात बारम्बार कही गयी है, उसे मैंने वास्तविक जीवन की धरती पर, सहज और नितान्त मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्तन करते और विचरते दिखाने का एक कलात्मक प्रयोग किया है। मैंने इन पात्रों को आदर्श की निर्जीव पूजा-मूर्तियों के रूप में नहीं ढाला है। जीवन के तमाम सम्भव विकारों, स्फुरणाओं, प्रवृत्तियों के बीच ठीक आधुनिक मनुष्य की तरह बेपरदा, और बेखटक लीला-विलास करते हुए उन्हें आलेखित किया है। ये चरित्र अपनी प्रतिक्रियाओं में अत्यन्त स्वाभाविक और मानवीय होते हुए भी, प्रतिक्रिया के दुश्चक्र को अनायास तोड़कर पहल करते हैं, ताकि जीवन चेतना की उच्चतर भूमिकाओं में उत्क्रान्त हो। उनके निर्विकल्प वर्तन की शुद्ध क्रिया से अन्तर-आत्मा का उद्बोधन हो, नये, सुन्दर, संवादी जीवन का सृजन हो। मेरे ये पात्र निरन्तर नयी राहों के अन्वेषी हैं, हर कदम पर जीवन को नया तोड़ और मोड़ देते दिखाई पड़ते हैं। ये किसी पालतू आचार-संहिता की कठपुतलियाँ नहीं, किसी रूढ़ नैतिकता से आबद्ध नहीं। ये अपने स्वतन्त्र आत्म-चैतन्य के सिवाय और किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं। अपने स्व-भाव की स्वायत्त और चिर-प्रगतिशील शक्ति से, ये हर स्थिति में विचार और आचार की नयी भंगिमाएँ उपस्थित करते हैं। ये स्थितिबद्ध (स्टैटिक) पात्र नहीं, नित्य प्रगत (डायनेमिक) मानव इकाइयाँ हैं। मानव आत्मा के मौलिक स्वातन्त्र्य और जीवन्मुक्ति को ये 'अप-टु-डेट' नये मनुष्य के लिए, अपने जीवनाचरण से सर्वथा नये रूप में परिभाषित करते हैं। ये चरित्र एकबारगी ही आज के पूर्ण स्वातन्त्र्यकामी स्त्री-पुरुषों के मनोवैज्ञानिक जीवन-सहचर, प्रतिनिधि और मार्गदर्शक हैं।

इन कथाओं या पात्रों को किसी रूढ़ अर्थ में धार्मिक कहना बहुत गलत और भ्रान्त होगा। यदि ये धार्मिक हैं तो केवल मूलगत स्वभाव के

अर्थ में। ये परम स्वतन्त्र सत्ता, चितिशक्ति और आत्मा के मुक्त प्रतिनिधि हैं। ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को आज के मानवों के लिए 'दुंदंट' अर्थ में परिभाषित करते हैं। ये तमाम जड़-जीर्ण, रूढ़, कुण्ठित, पुरातन मूल्यों का भंजन करके, नित-नव्य मूल्यों और सम्भावनाओं के द्वार खोलते हैं। ये मूर्तिभंजक और नवजीवन के सर्जक एक साथ हैं। ये शुद्ध, नग्न, यथार्थ, अप्रतिबद्ध (अनकण्डीशण्ड) सत्य के खोजी हैं। एक वाक्य में, ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त चिर-प्रगतिमयी सत्ता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। ये उपोद्घात करते हैं, 'इनीशिएट' करते हैं, पहल करते हैं। आज के मनुष्य को जड़-पुरातन के ध्वंस और अभीष्ट नूतन के सृजन की दिशा में अनायास परिचालित करते हैं।

ये पुराण, इतिहास, परम्परा की किसी भी परिधि से परिबद्ध नहीं। इन्हें महज पौराणिक, ऐतिहासिक पात्र कहकर बरतरफ नहीं किया जा सकता। मिथक के सार्वभौमिक, सार्वकालिक स्वरूप-शिल्प में रचित ये पात्र इतिहास, पुराण और परम्परा को अपने में समावेशित किये, देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करते-से लगते हैं। इसी कारण ये अभी, यहाँ और इस क्षण तक की मानव-चेतना के प्रतिनिधि, प्रकाशक, उद्बोधक और मशालची हैं।

इन कहानियों में सर्वत्र काम-तत्त्व को अत्यन्त स्वस्थ और उन्मुक्त अभिव्यक्ति मिली है। किसी छद्म नैतिकता और छद्म धार्मिकता के अनुरूप काम को दबाने या बचाकर व्यक्त करने की भीरु चेष्टा यहाँ नहीं दिखाई पड़ेगी। काम सृष्टि का मौलिक उत्स है। वह मूलतः वैश्विक ऊर्जा यानी 'कॉस्मिक एनर्जी' है। विशुद्ध और स्वस्थ काम ही जीवन-जगत् की सारी प्रवृत्तियों और रचनाओं का प्रेरणा-स्रोत है। एक तरह से वही सत्ता के परिणामी स्वभाव का सृजनोन्मुख संचरण है। संस्कृत के प्राचीन कोशकारों ने काम को आत्मा का पर्यायवाची तक कहा है। प्राक्तन भारतीय जीवन और सृजन में काम को निर्बाध और अविकल्प अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

आत्यन्तिक वीतरागता के साधक और उपदेष्टा जैनाचार्यों तक ने अपने पुराणों और काव्यों में काम और शृंगार का अकुण्ठ और उन्मुक्त वर्णन किया है। जीवन की एक विशिष्ट विकास-भूमिका में उन्होंने यथास्थान काम को मुक्त स्वीकृति दी है। सर्वांगीण जीवन-लीला के यथार्थ और अनासक्त द्रष्टा के नाते काम को उसकी सारी परिणतियों और भंगिमाओं के साथ पराकाष्ठा तक चित्रित करके, इन जैन कवि-योगीश्वरों ने अपने पात्रों को कामोत्तीर्णता की ऊर्ध्व भूमिका में सहज और अनायास भाव से उत्क्रान्त कर दिया है। काम को दबाना, छुपाना, उसे अस्वस्थ और ग्रन्थीभूत करना है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर तीर्थंकर, योगी, द्रष्टा और कवि ऐसा कैसे कर सकते हैं। इसी से परम निर्ग्रन्थ जिनेश्वरों ने काम को सम्मुख लेकर, अपने निर्भय द्रष्टाभाव से ही उसे अनायास जय कर लिया है। काम, जो कि अपने ही आपमें वस्तु-स्वभाव की एक स्थूल संचारणा है, उसका विनाश सम्भव नहीं। सत्ता का विनाश कैसे हो सकता है ? अकाम नहीं, पूर्णकाम ही हुआ जा सकता है। काम आत्म में लय पाकर, अन्ततः आत्मकाम ही हो रहता है। यह जो बहिर्मुख रमण-लालसा है, वह अन्ततः अन्तर्मुख पूर्ण रमण की आध्यात्मिक अभीप्सा की ही वैभाविक अभिव्यक्ति है।

मेरी इन कहानियों के तमाम कायिक और शृंगारिक बिम्ब तथा वार्तालाप, काम की उपर्युक्त उन्नत और स्वस्थ भूमिका पर ही रचे गये हैं। काम-ग्रन्थि ही वह चरम ग्रन्थि है, जिसका भेदन किये बिना परम मुक्ति सम्भव नहीं। इसी कारण मुक्ति की महावासना से निरन्तर व्याकुल मेरे पात्र अपनी कामानुभूति और काम-क्रीड़ा की परासीमाओं का निर्भीकता से दर्शन और विश्लेषण करते सुनाई पड़ते हैं। उनकी काम-लीला एक प्रकार से उनके मोक्षारोहण की सोपान-श्रेणी मात्र होकर रह गयी है। मेरी इन कहानियों की कला में, काम और शृंगार अनायास ही समयसार यानी आत्माभिसार और आत्म-रमण हो गया है। मुझे उम्मीद है कि मेरे पाठक और भावक, मेरे कृतित्व में काम के इस उन्नायक अवबोधन और सर्जना-प्रयोग

को सही अर्थों में ग्रहण करेंगे। अब तक का मेरा अनुभव यह है कि मेरे आलोचक से अधिक मेरे पाठक ने मेरी सृजना के इस मार्मिक और नाज़ुक पहलू को समीचीन रूप से समझा और आस्वादित किया है। मेरे इस संयुक्त कामाध्यात्मिक दर्शन को समझने के लिए इस संग्रह की अन्तिम कहानी 'त्रिभुवन-मोहिनी माँ' एक अचूक कुंजी सिद्ध हो सकती है।

अतीन्द्रियता का अर्थ मेरे यहाँ कतई आत्मदमन या इन्द्रिय-दमन नहीं है। आशय यह है कि हम अपने ऐन्द्रिक भोग के दास न हों, बल्कि स्वामी हों। इन्द्रियाँ मात्र हमारी ऊर्ध्वमुखी आत्मिक लीला की नियन्त्रित माध्यम हों, यन्त्र हों। वे हम पर हावी न हों, हम उन पर हावी रहें। सच्चा और शाश्वत ऐन्द्रिक सुख भी ऐन्द्रिक संयम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। जो पूर्ण इन्द्रियजयी हो, जो पूर्ण कामजयी हो, वही पूर्णकामी और पूर्ण भोक्ता हो सकता है। योग में ही, नित्य योग और निरन्तर मैथुन का अस्खलित सुख उपलब्ध हो सकता है। मेरे इन कथा-पात्रों में ऐन्द्रिक संवेदना और संचेतना परासीमा का स्पर्श करती है। पर वह अत्यन्त सूक्ष्म, परिष्कृत (रिफाइण्ड) और अतिक्रान्त ऐन्द्रिक योगानुभूति है। मैंने अपने आज तक के तमाम सृजन में ऐन्द्रिक और अतीन्द्रिक के इस चिरकालीन विरोध का इसी प्रकार विसर्जन और समाहार किया है।

मेरे शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' में भी मेरे महावीर सम्पूर्ण ऐन्द्रिक संचेतना-संवेदना के साथ जीते हुए, सहज ही अतीन्द्रिय योगी के रूप में विचरते दिखाई पड़ते हैं। मेरे महावीर शुष्क काष्ठ-मूर्ति वीतरागी नहीं हैं : वे छलाछल जीवन-रस के पूर्ण भोक्ता, जीवनमुक्त अनुत्तर योगी हैं। उनकी जीवन-लीला में अनायास भोग ही योग हो गया है, योग ही भोग हो गया है।

इन कथाओं में मैंने मूल जैन पुराकथा की मात्र रूप-रेखाओं और मार्मिक सूत्रों को लेकर, उन्हें अपने स्वतन्त्र अवबोधन (पर्सेप्शन) द्वारा नये सिरे से बुना है। आधुनिक भावबोध, सौन्दर्य-बोध और सर्जनात्मक कल्पना के माध्यम से मैंने उनमें आज के मनुष्य के लिए नये वातायन खोले हैं,

नयी रोशनी डाली है, नयी व्याख्या उद्भावित की है।

सन् 1972 के नवम्बर महीने में पूज्यपाद मुनीश्वर विद्यानन्द स्वामी ने इन्दौर के उत्कृष्ट-विचार मासिक 'तीर्थंकर' के सम्पादक और मेरे अभिन्न आत्मीय डॉ. नेमीचन्द जैन को आदेश दिया कि वे 'तीर्थंकर' में हर महीने मुझसे एक जैन पुराकथा लिखवाएँ। इसी से ये कहानियाँ अपने आविर्भाव के लिए मूलतः मुनिश्री की प्रेरणा और नेमी भाई के सतत स्नेहानुरोध की ऋणी हैं। नेमी के बिना इन कहानियों के अस्तित्व की कल्पना सम्भव नहीं। साधुमना अनुज प्रेमचन्द जैन कोने के अदृश्य दीपक की तरह इन्हें अपने स्नेह से आलोकित किये हैं। लक्ष्मण की प्रीति का मूल्य कौन आँक सका है ?

'मुक्तिदूत' जिनके वात्सल्य का जाया है, उन्हीं भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमारानी जैन ने, इन कथाओं को बहुत प्यार से गोद में लेकर यह ग्रन्थाकार दे दिया। पिण्डदातृ माँ का ऋण कब कौन चुका सका है ?

इन कहानियों के लेखनकाल में साहू-जैन लिमिटेड, दिल्ली के बिज़िनेस-डाइरेक्टर बाबू नेमिचन्द्र जैन से जो प्रोत्साहन, कद्रदानी और नैतिक सम्बल मुझे मिलता रहा, उसे मैं कभी भूल नहीं सकूँगा।

मेरे चिरकाल के अनन्य हितैषी और अभिन्न अग्रज भाई साहब श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन तो मंगल-कवच की तरह पिछले सत्ताईस बरस से मुझे थामे खड़े हैं। मेरे लिए अकेले उन्होंने चुपचाप जितना किया है, वह मेरी जीवन-कथा का बहुत मार्मिक अध्याय है।

मेरे अल्ट्रा-मॉडर्न कलाकार बेटे डॉ. ज्योतीन्द्र जैन और पवनकुमार जैन ने अपनी तीखी आलोचना की कसौटी पर, इन कहानियों को स्वीकारा और एक उपलब्धि के रूप में सराहा, तो मैं आश्वस्त हुआ कि ज्योतीन के सद्यःप्रवासित यूरोप की 'टु-डेट' सृजन-चेतना के साथ शायद ये कृतियाँ किसी कदर संगत हो सकी हैं।

कई शीर्षस्थ नवलेखकों और बौद्धिकों से लेकर, सामान्य पाठकों तक ने, 'तीर्थंकर' में इनके प्रकाशन क्रम में ही, इन कहानियों को जिस मुग्धता और प्यार से अपनाया, उसे देखकर मैं स्तब्ध हूँ। अपने उन हजारों प्यारे पाठकों के सम्मुख मैं कृतज्ञता और कृतार्थता से नतमाथ हूँ। मेरे भावक इन्हें पढ़कर आगे भी मुझे अपनी प्रतिक्रिया से अवगत करेंगे, तो मैं उनका आभारी हूँगा।

महाशिवरात्रि : 20 फरवरी, 1974
गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड,
विले पारले (पश्चिम), मुम्बई-56

—वीरेन्द्र कुमार जैन

अनुक्रम

चूड़ान्त की प्रभा 27
आख्यान पार्श्वकुमार और प्रभावती का

स्वयंनाथ : सर्वनाथ 42
आख्यान चेलना और श्रेणिक का

एक और नीलांजना 52
आख्यान ऋषभदेव और अप्सरा नीलांजना का

लिंगातीत 68
आख्यान राजुल और नेमिनाथ का

वासुदेव कृष्ण का पत्र : 80
तीर्थंकर नेमिनाथ के नाम

रूपान्तर की द्वाभा 99
आख्यान मैनासुन्दरी और श्रीपाल का

अनेकान्त चक्रवर्ती : भगवान् समन्तभद्र 118
आख्यान कुमार-योगी समन्तभद्र का

जब पुकारोगी, आऊँगा 136
आख्यान कुमार वर्द्धमान और चन्दनबाला का

त्रिभुवन-मोहिनी माँ 144
आख्यान कवि-योगीश्वर आर्य जिनसेन का

●

चूड़ान्त की प्रभा

आख्यान पार्श्वकुमार और प्रभावती का

वाराणसी का राजपुत्र पार्श्वकुमार एक विचित्र लड़का है। उसका सब कुछ अनिश्चित है : उसका सभी कुछ एकदम निश्चित है। वह स्वभाव से ही अतिथि है। घर में भी यही चर्चा है उसकी। कब कहाँ होगा, कहा नहीं जा सकता। जरूरी नहीं कि उसे यहाँ या वहाँ ठीक समय पर होना चाहिए। 'चाहिए' शब्द उसके कोश में नहीं। जो चाहिए, वह तो वह अनायास होता ही है। वह तो बस, जो है, है।

"आओ पारस, बड़े भाग, तुम आये। कहाँ रहे इतने दिन, बेटा ?"

"यहीं तो हूँ, तुम्हारे सामने, माँ !"

"अभी तो हो, पर अब तक कहाँ थे, पारस ?"

"जहाँ हूँ, वहीं हूँ। अब तक, यहाँ, वहाँ जैसा कुछ लगता नहीं, माँ !"

"कितना याद करती हूँ तुझे, बेटा। पर तुझे मेरी याद क्यों आने लगी ?"

"याद करना जरूरी नहीं, माँ। तुम हो, आश्वस्त हूँ। याद करना अनाश्वस्त होना है।"

"माँ से तुझे प्यार नहीं ? कितना प्यार करती हूँ, तुझे क्या पता ?"

"प्यार, क्या करना होता है, माँ ? जो है ही, उसे करना क्या ?"

"प्रकट भी तो होता है।"

"होता है, व्याकुल होने से। व्याकुल नहीं हो पाता मैं, तो क्या करूँ :

क्योंकि सन्देह नहीं है तुम्हारे होने में। आश्वस्त हूँ कि तुम हो ही, मैं भी हूँ ही, सदा रहेंगे दोनों : फिर खटका किस बात का ?''

''वियोग भी तो होता है, पारस। तुम नहीं दीखो तो मन न जाने कैसा-कैसा होने लगता है !''

''तुम मुझे कहाँ देखती हो ? देखा होता, तो न देखने की बात कहाँ से आ गयी, माँ ?''

''इतने दिनों जो नहीं दीखे तुम !''

''आँखों देखना ही क्या कुल देखना है, माँ ? आँख कितना देख पाती है ? क्षण-भर, कण-भर। कुल वह कहाँ देख पाती है ! कुल पारस देखो, तो फिर वह ओझल हो ही नहीं सकता। वह स्वभाव नहीं।''

''बाबा, तुम्हारी ये बातें मेरे बस की नहीं। मैं हारी तुमसे !''

''हम जीत गये न, माँ ! तुम बहुत अच्छी हो, माँ!''

''सुना है, विन्ध्याचल घूम आया है रे तू ? जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है। तू भला, और तेरा घोड़ा भला।''

''अपनी इच्छा से तो आज कुछ करता नहीं, माँ।''

''मतलब ?''

''मतलब यह कि जो होता है, होता है। करते ही बनता है।''

''इच्छा बिना कोई कैसे कुछ कर सकता है, पारस ?''

''कर तो रहा हूँ, और तुम देख भी रही हो !''

''इच्छा बिना तो कोई जी भी कैसे सकता है ?''

''जी तो रहा हूँ, माँ ! और बड़े आनन्द से जी रहा हूँ।''

''समझी नहीं !''

''यही कि, न चाहते भी तुम्हारी वाराणसी का सारा राज-वैभव, मेरे भोग को प्रस्तुत है। नहीं भोगता इसे, तो मेरे पीछे भागा फिरता है, कि मुझे भोगो। और भोगते ही बनता है। भोगना और न भोगना, दोनों मेरे मन एक ही बात है, माँ।''

''कहाँ भोगते हो ? भागे तो फिरते हो !''

"मैं नहीं भागता, माँ। सच पूछो, तो यह बेचारा वैभव भी नहीं भागता। तुम सब इसके पीछे पड़े हो, कि वह मुझे पकड़े और अपने को भुगवाये; सो यह भागा फिरता है।"

"ओर तुम पकड़ में नहीं आते ?"

"पकड़ में आऊँ, तो इसे भोग कैसे सकता हूँ। भोग तो आनन्द के लिए है, मुक्ति के लिए है। पकड़ तो कैद है। कैदी कैसे भोग सकता है ? मुक्त ही भोग सकता है। भोक्ता और भोग्य, दोनों मुक्त रहें, तभी तो भोग सम्भव है। विलास और उल्लास तभी सम्भव है, कि हम स्वतन्त्र हों। स्वच्छन्द हों। हम अपने छन्द में रहें, भोग्य अपने छन्द में रहे। हर वस्तु का अपना एक छन्द होता है। स्वतन्त्र और स्वाभाविक।"

"अच्छा, पारस, मैं फिर हारी तुमसे। बड़े अनहोने हो, बेटा !"

माँ के आँचल में दूध उमड़ आया। जी में आया कि उठकर, इस लाड़ले को समूचा छाती में समा ले। पर इस सामने बैठे कोख के जाये को वह देखती ही रह गयी। हिम्मत न हो सकी। क्षितिज को क्या पकड़ा जा सकता है !...वातावरण में निस्तब्धता भर आयी। महारानी वामादेवी को उसमें रहना असह्य लगा। निष्कृति पाने को उन्होंने बात बदली :

"देख तो पारस, आर्यावर्त के जनपदों में आजकल एक विचित्र कहानी चल रही है !"

"सुनाओ माँ, कहानी सुनने ही तो आया हूँ, तुम्हारे पास। तुमसे सुनी कहानियाँ ही तो मुझे जाने कहाँ-कहाँ ले जाती हैं। अच्छा, सुनाओ नयी कहानी।"

"कुशस्थल की राजकन्या प्रभावती एक दिन अपनी सखियों के साथ वन-क्रीड़ा को गयी थी। रम्यकवन में उसने कुछ किन्नरियों को गाते सुना :

काशी का राजपुत्र पारस अनहोना है :
पृथिवी पर उसकी रे नहीं कहीं तुलना है !
नयी धान्य-आभा-सा हरियाला-पीला है :
उसकी हर चितवन में अखिल की लीला है।

वन-वन में उसकी ही हरितामा छायी है :
स्वर्गों की सुन्दरियाँ उसकी परछाहीं हैं।
अचल मानुषोत्तर वह धरती पर चलता है :
सागर स्वयम्भू-रमण चरणों पर बिछलता है।
स्वर्ग, नरक, मोक्ष को अँगुलियों खिलाता है :
एक बार देखे जो, आपा भूल जाता है।
काशी का राजपुत्र पारस अनहोना है :
पृथिवी पर उसको रे नहीं कहीं तुलना है।

"और पारस, प्रभावती ने जब से यह गीत सुना है, वह आपे में नहीं रही है। कहती है, ब्याहूँगी तो पार्श्वकुमार को, नहीं तो कुँवारी ही रहूँगी ! ...अब बोल, क्या कहता है तू, बेटा ?"

"ओ..., किन्नरियों का गीत सुनकर तो मैं भी आपा खो बैठा, माँ। ऐसा कोई पारस कहीं हो, तो मैं स्वयं प्रभावती बनकर उसे ब्याहना चाहूँगा, माँ। कहला दो प्रभावती से, कि तैयार है पारस ! वह 'मैं' हो जाए, और 'मैं' वह हो जाऊँ ! सौदा महँगा नहीं पड़ेगा। तब ब्याह पक्का रहा ?..."

सुनकर महारानी वामादेवी के हँस-हँसकर पेट में बल पड़ गये, और आँखें पानी-पानी हो गयीं। फिर बहुत ही उमगकर बोलीं :

"तेरे लीला-विनोद का अन्त नहीं, बेटा। नटखट कहीं का ! तो भेज दूँ सन्देशा कुशस्थल, कि पारस राजी है विवाह को ?"

"विवाह तो हो चुका, माँ ! उधर प्रभावती ने आपा खोया, इधर पारस ने। अब होने को क्या बाकी है ?"

"बड़ी भागवन्ती है, कुशस्थल की राजकन्या। वरना, आज तक तो तूने किसी को 'हाँ' नहीं कहा ! जाने कितने देशों की कन्याओं के चित्रपट आये, सबको गोल कर, उनसे खेलता रहा। जाने कहाँ फेंक दिये होंगे तूने, जाने कितनी सुन्दरियों के चित्र !"

"अरे फेंके नहीं माँ, सब टाँग दिये हैं, अलग-अलग कमरों में !"

"मतलब...?"

"यही कि सब मेरे अन्तःपुर में रानियाँ बनकर बैठी हैं ! किन्तु कम पड़ रही हैं ! मन अभी भरा नहीं, माँ...!"

"और प्रभावती से भी मन भरेगा या नहीं, सो क्या ठीक है !"

"अब देखो माँ, मन की तो मन जाने। और ठीक यहाँ किस बात का है ? और मन का तो स्वभाव ही नहीं कि ठीक हो, भरे...!"

"तब तो...कुछ भी ठीक नहीं तेरा, पारस ?"

"सच तो यही है, माँ। लेकिन कहला दो प्रभावती से, कि चाहे तो ठीक कर ले। मुझे भी, अपने को भी। तब बात बन जाएगी।"

"बेचारी लड़की ! तुझे जनकर भी तेरे भेद मैं नहीं समझ पा रही, तो वह क्या समझेगी ! आपा ही उसने नहीं रखा, समझेगी काहे से ?"

"आपा अगर सचमुच ही खो गयी है वह, तो समझने को क्या बाकी रह जाता है। तब तो मेरा भेद, वह मुझसे अधिक जान गयी है।"

"बिनोद छोड़, लालू, यह बता, तू तैयार है न ?"

"पारस कब तैयार नहीं है ! अपनी बात प्रभावती जाने।"

"जानने को क्या रहा, बेटा, वह तो तेरी होकर रह गयी है !"

"आभारी हूँ उनका।"

"आभार नहीं, उसे भर्तार चाहिए !"

"तथास्तु !...उन्हें अपना मनचाहा भर्तार मिले !"

"वाराणसी का राजपुत्र पार्श्वकुमार, और कोई नहीं !"

"जो उन्हें भर सके, वह उनका सच्चा भर्तार ! वह पारस होगा, तो वह भी मिल ही जाएगा !"

"तो आज ही अपना राजदूत कुशस्थल भेजे देती हूँ, सन्देशा लेकर।"

"अपना राजदूत तो मैं ही हूँ, माँ ! मेरे और उसके बीच राजदूत कैसा ? सन्देशा पहुँचा दिया, मैंने ही, चौकस !..."

महारानी इस अन्तहीन बेटे को, बस, देखती रह गयीं। शब्दों से परे है यह।

"अच्छा माँ, आज्ञा लेता हूँ।"

"तो फिर कब मिलेगा ?"

"जब चाहोगी...।"

और माँ के पैर छूकर, विपल मात्र में ही, पार्श्वकुमार अदृश्य हो गये। मानो हवा, इस खिड़की से आयी, उस खिड़की से निकल गयी।

o o o

काश्यपवंशीय काशीराज अश्वसेन, अपनी प्रातःकालीन राजसभा में, अपने गंगोत्रीनुमा सिंहासन पर सुखासीन हैं। प्राकृतिक हीरक चट्टान में उत्कीर्ण उसकी सहस्र-पहलू आभा में, विशाल पन्ने के छत्र की प्रतिच्छाया पड़ रही है। हिमालय की हिमानियों में जैसे देवदारु वृक्ष झलमला रहे हों। वृन्दवाद्यों के साथ गन्धर्व मंगल-प्रभातियाँ गा रहे हैं। अचानक प्रतिहारी आकर नमित हुई।

"परम भट्टारक काश्यपेन्द्र की जय हो ! कुशस्थल के मन्त्रीकुमार अजितसेन, महाराज से भेंट करने को द्वार पर प्रत्याशी हैं।"

"उनका स्वागत है, प्रतिहारी। सम्मानपूर्वक उन्हें लिवा लाओ।"

अस्त-व्यस्त, परेशान, पसीने से तर-बतर, धूलि-धूसरित अजितसेन ने आकर अभिवादन किया। और फूलती साँस में वे एकबारगी ही कह गये :

"कुशस्थल संकट में है, आर्य ! महाराज प्रसेनजित् की इकलौती राज-दुहिता ने जब से वन-क्रीड़ा में, किन्नरियों के मुख से, वाराणसी के युवराज पार्श्वकुमार का जयगान सुना है, वे मन-ही-मन कुमार का वरण कर चुकी हैं। कलिंग देशाधिपति यवनराज ने भी उसी वन-विहार में, रम्यकवन में आखेट करते हुए प्रभावती की एक झलक देखी थी। उसी क्षण से यवन पागल हो गया। अपना राजदूत भेजकर उसने महाराज प्रसेनजित् से प्रभावती के पाणिग्रहण की याचना की। प्रभावती मौन रही और मुकर गयी। उधर कलिंगराज के कानों तक यह बात भी पहुँची कि

प्रभावती एकनिष्ठ भाव से पार्श्वकुमार को समर्पित हो बैठी है। ईर्ष्या और रोष से भभककर उसने अचानक कुशस्थल पर आक्रमण कर दिया है। उसकी सेनाओं ने कुशस्थल के चारों ओर घेरा डाल दिया है और मोरचे पर वह स्वयं आ डटा है। मैं दुर्ग के गुप्त द्वार से किसी तरह छुपे वेश में निकल आया हूँ। काश्यपकुल की भावी राजवधू परित्राण की प्रतीक्षा में है। और काशी के माण्डलिक प्रसेनजित् की मर्यादा, काश्यपेन्द्र की मर्यादा है। उचित आदेश दें, महाराज, और हमारी तथा अपनी लाज रखें।"

सुनकर काशीराज अश्वसेन की भृकुटियाँ तन गयीं। अविकल्प राजाज्ञा सुनाई पड़ी :

"सेनापति जयदेव, इसी क्षण कोटिभट सैन्य लेकर कुशस्थल को प्रस्थान करो। हमारे सीमान्तों पर, रण का डंका बजाकर प्रजाओं को सावधान कर दो !"

और थोड़ी ही देर में युद्ध के दुन्दुभि-घोषों, तुरहियों और शंखनादों से वाराणसी थर्रा उठी। सीमान्तों पर सजते सैन्यों की पताकाओं और शस्त्रास्त्रों की चमचमाहट से आकाश चमत्कृत हो उठा। महाराज अश्वसेन, घुटने के बल सिंहमुद्रा में कटिबद्ध हो बैठे। राजदरबार में खलबली मच गयी।

...कि अचानक केशरिया उत्तरीय धारण किये, सर्पों-से अवहेलित कुन्तल लहराते, दूर से पार्श्वकुमार पहली बार काशी की राजसभा में आते दिखाई पड़े। निश्चिन्त, मुसकाती मुख-मुद्रा और युवा शार्दूल-जैसी सुधीर पगचाप। विस्मित, विमुग्ध, सब देखते रह गये। स्तब्ध।

"आज्ञा हो देव, रण-वाद्य बन्द हो जाएँ। सेनाएँ और शस्त्र सैन्यागार में लौट जाएँ।"

"समझा नहीं, कुमार...?"

"संकट-निवारण को पार्श्वकुमार प्रस्तुत है।"

"लेकिन सैन्य और शस्त्र बिना ?...क्या करना चाहते हो ?"

"पारस स्वयं अपना सैन्य और अपना शस्त्र है। क्षमा करें महाराज,

शस्त्र और सैन्य नहीं लड़ते, ललाट का तेज लड़ता है, ऊर्ध्वरेता वीर्य लड़ता है।"

"पहेली न बुझाओ बेटा, यह संकटकाल है। खेल नहीं।"

"पहेली नहीं, यह पहल है, राजन् ! कहीं से पहल करनी होगी, तभी तो वैर और हिंसा का दुश्चक्र टूटेगा। शस्त्रबल और बाहुबल से बड़ा, एक और भी बल है। वही सच्चा और अन्तिम बल है। वह निर्णायक हो सकता है। उसके इस ओर निर्णय सम्भव नहीं। मैं अधूरी विजय से तुष्ट नहीं, अन्तिम विजय चाहता हूँ, महाराज !"

"खेल का समय नहीं, कुमार। संकट से खेला नहीं जाता। अवसर की गम्भीरता को समझो।"

"संकट को गम्भीर मानना, भयभीत होना है। भय से भय का निवारण सम्भव नहीं। अभय होकर उसमें कूदे, कि भय गायब। और वह खेल से ही सम्भव है, युद्ध से नहीं !..."

"पार्श्वकुमार...!"

"देर हो रही है, राजन्, क्षमा करें। सेनापति, रणवाद्य बन्द हों, सेनाएँ लौट जाएँ।"

और थोड़ी ही देर में चारों ओर, एक मुक्त, शान्त नीरवता व्याप गयी।...

...और जाने कब, पार्श्वकुमार अकेले, कवच-शिरस्त्राणविहीन, निःशस्त्र, विद्युत् वेग से, अपने 'महाकाल' नामा अश्व पर आरूढ़, कुशस्थल की ओर उड़े जा रहे थे।

० ० ०

...एक कड़कती बिजली जैसे एकाएक कलिंग के सैन्यशिविरों को चीरती हुई निकल गयी। एक छलाँग में 'महाकाल' का अश्वारोही, त्रिखण्डी रथ पर आरूढ़ यवनराज के मस्तक को लाँघकर, कुशस्थल के दुर्ग-तोरण पर

जा पहुँचा। अपनी एक एड़ के झटके से, अपने घोड़े को कलिंगाधीश के सम्मुख कर, निर्भीक और निरावेग स्वर में बोले पार्श्वकुमार :

"वाराणसी का राजपुत्र, यवनेश्वर का अभिवादन करता है।"

उसके मुसकराते मृदु-सौम्य और मित्र-मुख को सम्मुख पाकर यवन अवाक् देखता रह गया।...

"यवनेन्द्र की इच्छा पूरी करने को काश्यप-पुत्र प्रस्तुत है।"

"कौन...? वाराणसेय पार्श्वकुमार ?"

"आभार ! मुझे आपने पहचाना।"

यवन की पेशानी के बल गायब हो गये। तनी हुई शिराएँ ढीली पड़ गयीं।

"युद्ध करने आये हो, कि खेलने...?"

"जो चाहें। हर तरह आपकी इच्छा पूरी करने आया हूँ।"

"अभी तुम्हारे खेलने के दिन हैं पार्श्वकुमार ! युद्ध खेल नहीं !"

"पारस तो केवल खेलता है, कलिंगेन्द्र। युद्ध भी !"

"वाराणसी का सैन्य तो कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा। और तुम्हारे कवच, शिरस्त्राण और शस्त्र क्या मेरे सैनिकों ने छीन लिये हैं ?"

"वह मैं धारण ही नहीं करता राजेश्वर, तो कोई छीनेगा क्या ? और सैन्य मुझे अनावश्यक है। मैं ही अपने लिए और आपके लिए काफी हूँ।"

"क्या चाहते हो ?"

"जो आप चाहें !"

"मेरा तुमसे कोई सरोकार नहीं। क्या प्रभावती का हरण करने आये हो ?"

"हरण और वरण, दोनों से परे, प्रभावती अपनी जगह पर है। मैं अपनी जगह पर हूँ। अपनी निर्णायक वह स्वयं है, मैं और आप नहीं। पर उसका अपहरण कोई नहीं कर सकता, यह मैं देखूँगा।"

"तुम कौन होते हो उसके ?"

"अकारण परित्राता, रक्षक, क्षत्रिय ! उसी का नहीं, हर संकटग्रस्त

का।"

"तो फिर सुन लो काश्यप, प्रभावती तुम्हारी नहीं, मेरी है। और मैं उसे लेकर रहूँगा !"

"यह किसकी है, यह वह स्वयं जाने। आपकी है, तो आपको मिलेगी ही। पर देख रहा हूँ, उसे लेना आपके वस का नहीं है। चाहें तो मेरी मदद लें। मैं ले चलूँ आपको उसके पास। यों आपका रास्ता सरल हो जाएगा।"

"मतलब...?"

"यही कि आपकी है वह, तो आपको मिल जाए। मैं आपकी हर इच्छा पूरी करने आया हूँ।"

"तो तुम उसे नहीं चाहते ?"

"मेरा चाहना अर्थ नहीं रखता, यवनेश्वर। निर्णायक प्रभावती की चाह है। चलकर उसका निर्णय जान लें।"

"वह मेरे लिए नगण्य है। मैं जो चाहूँगा, उसे अपने बाहुबल से ले लूँगा !"

"अपहरण...?"

"बाहुबल से हरण होता है, वरण होता है, अपहरण नहीं !"

"तो दिखाइए अपना बाहुबल, पारस तैयार है !"

"मेरी राह से हट जाओ, काश्यप !..."

"देव, दनुज, मनुज, कोई सत्ता पारस को अपनी जगह से हटा नहीं सकती। कलिंगनाथ का बाहुबल देखने को उत्सुक है आज पारस। प्रणत हूँ, और प्रस्तुत हूँ।"

...और अगले ही क्षण यवन के हाथ का शंख छीनकर, पार्श्वकुमार ने युद्ध-घोषणा कर दी। यवन-सेनाएँ उमड़-घुमड़कर टूट पड़ीं।...

...कुशस्थल-दुर्ग के सर्वोच्च प्रासाद-वातायन की जाली से झाँकती दो आँखें, भय और सन्त्रास से व्याकुल हो उठीं।

और दानवी गर्जन के साथ हुमकते यवन-सैन्य ने पाया, कि सामने प्रहार झेलने और लौटाने को कोई नहीं है। वे सब दृष्टिक्षेप होकर मात्र

देखते रह गये। एक उत्तुंग अश्व पर, उदीयमान सूर्य-सा कोमल, अरुण, तेजोमान एक युवा आरूढ़ है। नग्न और प्रभास्वर है उसका वक्ष-मण्डल। और अपनी उल्लम्ब दोनों बाहुएँ फैलाए, वह जैसे उदयाचल पर धीर गति से अधिकाधिक उद्भासित होता जा रहा है। उसके अपूर्व सुन्दर मुख-मण्डल पर, मात्र प्यार की एक मुस्कान फैलती चली जा रही है।...

सहस्र-सहस्र सैन्यों के शस्त्र स्तम्भित हो ताकते रह गये।...और अचानक दीखा, कि यवनेश्वर का प्रचण्ड शिरस्त्राण-मण्डित माथा, उस युवा वक्ष के अगाध मार्दव में डूब गया है। दिखाई पड़ रही हैं केवल, दो सुन्दर, सुगोल, कान्तिमान्, गुम्फित भुजाएँ, समचे यवनराज को आवेष्टित किये हुए।

...कुशस्थल-दुर्ग के सर्वोच्च वातायन से झाँकती, दो कृष्णसार आँखें, आँसुओं में ढलककर, भीतर खुल गयीं। बाहर का देखना सदा को समाप्त हो गया। भीतर के देखने का अन्त ही नहीं है।...

आत्म-विभोर होकर बोल उठे यवनेश्वर :

"पार्श्वकुमार, प्रभावती को नहीं, तुम्हें पाना चाहता हूँ। पा गया हूँ, फिर भी दूर क्यों लगते हो ?...कलिंग के अन्तःपुरों को क्या उत्तर दूँगा ? ...चलो, वे देखें कि तुम्हें जीत लाया हूँ, जगत् की तमाम प्रभावतियों के स्वामी को !..."

"कलिंगेश्वरी से कह दें, कि उनका बेटा कभी निश्चय ही उनके पास आएगा। पारस्य देश की सौ-सौ सुन्दरियाँ उसकी माँ हो गयीं। पारस धन्य हो गया !"

और ईषत् झुककर, यवनराज के भाल पर एक चुम्बन अंकित कर, 'महाकाल' के अश्वारोही पार्श्वकुमार, हवाओं में अन्तर्धान हो गये।

o o o

"आ सकती हूँ, पारस ?"

"बेटे के पास आने में अनुमति कैसी माँ ?"

"केवल मेरे बेटे तो अब तुम नहीं रहे ! कलिंग-विजय के बाद, आज सारे आर्यवर्त की आँखें तुम पर लगी हैं। इन्हीं सबमें से एक मैं भी हूँ !"

"सबका हूँ, इसी से तुम्हारा अधिकार कम नहीं हो गया, माँ ! अन्तिम न सही, पहला अधिकार सदा तुम्हारा रहेगा !"

बेटे की इस गौरव-नम्र भंगिमा की बलाएँ लेती-सी महारानी वामादेवी बोलीं :

"कुशस्थल का राजदूत टीका लेकर आया है। कल भोर की ब्राभावेला के मंगल-मुहूर्त में, तिलक धारण करोगे तुम !"

"यह टीका किस बात का, माँ ?"

"प्रभावती के साथ तुम्हारे वाग्दान का !"

"तो वाग्दान का टीका, राजदूत क्यों करेगा ?" चाहे तो, जो वरण करना चाहती है, वह आकर करे। राजदूत से मेरा क्या लेना-देना ?"

"वह तो तेरी हो ही गयी, बेटा। यह तो एक रीति है राजकुलों की।"

"तुम तो जानती हो, माँ, रीति-नीति से तो पारस कभी चला नहीं। यह तो आत्मदान का निर्णय है, इसमें रीति कैसी ?"

"वाग्दान हो ले, फिर आत्मदान तो तुम दोनों के बीच की बात है।"

"तो हमारे बीच की जो बात है, वह तो हो ही चुकी। बाहरी वाग्दान अब अनावश्यक है। आत्मदान का तिलक तो प्रभावती ही कर सकती है, राजदूत से कह देना।"

"सब बातों में तेरी मनमानी से मैं तो हार गयी, पारस।...अच्छा, सच बताना, यही न कि एक बार तू उसे देख लेना चाहता है !"

"अब देखने की दरार कहाँ बची माँ ! अब तो बस, अपने को दे देना है। जो लेना चाहे, वह आये। पारस प्रस्तुत है।"

और पार्श्वकुमार एक स्थिर दृष्टि माँ पर डालकर, उनके चरण छूकर, चुपचाप अपने अन्तःकक्ष में चले गये।

o o o

गंगा-तटवर्ती चैत्य-उपवन की छत पर खड़े पार्श्वकुमार दूरान्तों में लीन होती लहरों पर खेलने चले गये हैं।

हवा में एकाएक महक उठी मालती-सी पगचाप, उन लहरों में उन्हें सुनाई पड़ी। कुमार ने अपनी आँखों का अनुसरण करती, दो घनी नीलमी आँखें देखीं। सहसा ही मुड़कर देखा, तो प्रतिच्छाया-सी प्रभावती पास ही खड़ी थी।

"ओ...आओ देवी ! कुशस्थल की राजबाला को पार्श्वकुमार प्रणाम करता है !"

सुनकर, देश-काल में ठहरना कठिन हो गया उस सरला के लिए। ढलकी पलकों की लम्बी-लम्बी बरौनियाँ चित्रित-सी हो रहीं। और वह उन्हीं में सिमट रही।

"पारस प्रस्तुत है, कल्याणी, संकोच किस बात का ? क्या आज्ञा है ?"

"आदेश सुनने आयी हूँ।...लज्जित न करें, देव !"

"सचमुच, परम सुन्दरी हो ! एक बार देखने की इच्छा थी। सारी रीति-नीति तोड़कर तुम चली आयीं ! कृतज्ञ हूँ।"

"रूप तो रज होना ही है एक दिन। इन श्रीचरणों की रज होकर वह सार्थक होना चाहता है।"

"जो रूप रज हो जाए, प्रभावती, उसे लेकर क्या करूँगा ? मुझे तो लावण्य चाहिए, ऐसा कि जो अमृत हो जाए।...मर्त्य को पारस प्यार नहीं कर सकता !"

"जो, जैसी हूँ, प्रस्तुत हूँ, नहीं जानती कि क्या हूँ। अपनी अब कहाँ रही ! जिसकी हूँ, वह जो जी चाहे, मुझे बना ले।"

"सुन्दरियाँ तो बहुत देखीं, पारस ने। जाने कितने देश-देशान्तर भटका हूँ, मन की सुन्दरी की खोज में। पर्वत लाँघे, नदियाँ तैरीं, समुद्र पार किये।

किन्तु पार्थिव में वह प्रिया कहीं दीखी नहीं।...पर अनन्य है तुम्हारी रूपश्री !''

''स्वामी की आँखें जो देखें, कम है। देह धरकर मैं कृतार्थ हुई।''

''लेकिन, सुनो देवी, मैं ऐसी सुन्दरी चाहता हूँ, जो जरा और मरण का ग्रास न हो सके !...वही हो क्या तुम ?''

''मैं क्या जानूँ, स्वामी जानें, कि उनकी प्रभा कौन है, क्या है ?''

''सुनो प्रभावती, वचन दो कि वृद्धा नहीं होओगी, मरोगी नहीं।''

''जरा और मरण से परे होने का दावा कैसे कर सकती हूँ। मैं तो एक साधारण लड़की हूँ।''

''साधारण लड़की से पारस का काम नहीं चलेगा, प्रभावती।''

''जरा और मरण से परे की सुन्दरी, मैंने तो सुनी नहीं आज तक। वैसे मेरा ज्ञान ही कितना है ? आप ज्ञानी हैं, आप जानें, वह कौन है, कहाँ है !...''

''सम्मेद-शिखर का नाम सुना है, देवी ?''

''कभी सुना भी हो...तो अब कुछ याद नहीं रहा। बहुत दिन हो गये, मैंने तो एक के सिवाय कुछ देखा-सुना ही नहीं। उससे बाहर का भूगोल अब भूल ही गयी हूँ।''

''बड़ी सरला हो। इसी से मेरी कठिनाई बढ़ गयी है। मुझे समझने की कोशिश करो, प्रभावती।''

''समुद्र में डूब सकती हूँ, उसे समझना मेरे वश का नहीं !''

''तो डूब जाओ, और सुनो समुद्र को : समझ में आ जाएगा।''

'बोलो नाथ...!''

''देखो प्रभावती, पारस की हठ लोक-विख्यात है। आर्यावर्त के सारे राजकुल और जनपद उससे परेशान हैं। जो चाहता है, उसे वह पाकर रहता है। उसी हठीले से तुम्हारा पाला पड़ा है। तुमने बड़े असम्भव पुरुष को चुना है, कल्याणी। चाहो तो मेरी हठ पूरी करो। जरा-मरणातीत मेरी होकर रह सको...तो पारस प्रस्तुत है !''

"मुझे ले लो, और फिर, जो चाहो अपनी हठ मुझमें पूरी करो मेरे देवता ! जो चाहो, मुझे बना लो : तुम्हारी हर चाह में ढलती चली जाऊँगी। नारी होकर इससे अधिक क्या दे सकती हूँ, नहीं जानती !"

"नहीं जानती, तो जानो, मैं बताता हूँ।...सुना है, सम्मेद-शिखर पर्वत की किसी अगम्य चूड़ा पर, एक ऐसी सुन्दरी रहती है, जो नित्य यौवना और अमृता है। जरा और मरण उसे अनजाने हैं। उसकी खोज में जाना चाहता हूँ। साथ चलोगी, प्रभावती ?..."

"जो चाहोगे, करूँगी ही। तुम्हारे हर हठ के आघात से, मेरी हड्डी-हड्डी लचकती चली जाएगी। जितना चाहो खींचो, टूटूँगी नहीं : तुम्हारी हर तान की तन्त्री होकर रहूँगी। अपनी हर उत्तानता लेकर आओ मेरे भीतर, चूर-चूर होकर, तुम्हारी मनचाही गहराइयों में तुम्हें झेलती चली जाऊँगी। अनन्तिनी और अमृता हूँ कि नहीं, सो तो नहीं जानती, पर अनन्त और असम्भव होकर आये हैं मेरे स्वामी, तो प्रभा उनके हर बाहुबन्ध में, नयी होकर लहराएगी। अमृत सींचोगे, तो यह माटी मर्त्य कैसे रह सकेगी...!"

पार्श्वकुमार उन्मीलित मुद्रा में स्थिर, जैसे किसी पारान्तिनी तुरीया को सुन रहे थे।

"बड़ी सुनम्या हो, आत्मन् ! रक्त-मांस के तन में ऐसी सुनम्यता नहीं देखी, नहीं सुनी।...फिर भी बाहर जब देखता हूँ, तो लगता है कि तुम तो सुगन्ध से भी कोमल हो, प्रभावती। मेरी यात्रा के उन दुर्गम्यों में कैसे चलोगी। पत्थरों, काँटों, चट्टानों, अभेद्य अरण्यों, हिंस्र प्राणियों, खड़ी चढ़ाइयों, अजेय ऊँचाइयों, अतल खन्दकों के किनारों को पार कर सकोगी ?"

"अपनी चरण-रज बना लो, फिर चाहे जहाँ ले चलो। तुम्हारे समर्थ चरणों की धूलि हो जाने पर, कुछ भी अगम्य नहीं रहेगा मेरे लिए। तुम्हारे पैरों से लिपटकर मौत में से भी पार हो लूँगी। चलोगे तुम, मुझे तो चलना नहीं होगा। फिर डर किस बात का ?"

"और अगर वह सुन्दरी वहाँ मिल गयी, और मैंने उसका वरण कर लिया, तो तुम क्या करोगी ?"

"...तब मैं कहाँ रह जाऊँगी, वही हो रहूँगी।...और निर्णय के स्वामी तुम हो, मैं नहीं। रम्यक उपवन की गान-लहरी में जिस दिन पहली बार तुम्हें देखा, उस क्षण के बाद, प्रभा केवल तुम्हारे मन की एक तरंग होकर रह गयी। अब मुझसे क्या पूछते हो !...कुशस्थल के दुर्ग-द्वार पर, मेरा परित्राण करने, क्या मुझसे पूछकर आये थे ? उस दिन तुम्हारे विशाल वक्ष देश में जब बंधन हारा, हाथ में आ गयी ! अरे, तो उसी मुहूर्त में हो गयी थी। बोध हुआ था, मृत्युंजय की चहेती मर नहीं सकती !...आगे तुम जानो !"

"समझ रहा हूँ...देख रहा हूँ तुम्हें !...पर निर्णय सम्मेद-शिखर के चूड़ान्त पर ही होगा, प्रभावती। और निर्णय मैं नहीं, वह अमृता ही करेगी ! क्या कहती हो ?"

"मुझे तो कुछ नहीं कहना। जो चाहो करो मेरे साथ, मेरे प्राणनाथ...!"

"प्रभा...ऽ ऽ ऽ ऽ...!"

"मेरे प्रभु...!"

"पहचान रहा हूँ...तुम्हें !"

"अपनी प्रभा को...?"

"हाँ, देख रहा हूँ तुम्हें...अपने आर-पार, तुम्हें...केवल तुम्हें !"

"तो मेरा वरण-तिलक स्वीकारो...!"

"...वरण यहाँ नहीं, चूड़ान्त पर ही होगा, आत्मन् ! मर्त्य के राज्य में मिलन सम्भव नहीं, प्रभा !...जब पुकारूँ, तब आना ! हो सके तो उस दिन मेरा प्रभा-मण्डल बन जाना। सम्मेद-शिखर के अगम्यों को, तब एक ही छलाँग में लाँघ जाऊँगा...!"

...और अगले ही क्षण पार्श्वकुमार वहाँ नहीं थे। गंगा की लहरों के अनन्तगामी पन्थ पर, एक विराट् आभा-पुरुष चला जा रहा था...दूर-दूर-दूर...दूर-दूर-दूर...! और औचक ही दीखा, नीले जल-दिगन्त में डूबते विशाल सूर्य की कोर पर पैर धरकर, वह उस पार उतर गया !...

सामने के स्फटिक-फर्श पर अंकित, शेष चरण-चिह्नों पर माथा ढालकर, प्रभावती प्रणिपात में नमित हो गयी। और फिर उठकर, वह धीर गति से चलती हुई, चैत्य-उपवन की अन्त-वीथिओं में तिरोहित हो गयी।

उस सन्ध्या के बाद पार्श्वकुमार फिर वाराणसी के राजप्रासाद में कभी नहीं लौटे। और प्रभावती का रथ खाली और उदास कुशस्थल लौट आया।

...इस घटना को अब दो हजार साढ़े-सात सौ वर्ष बीत गये हैं। कहते हैं कि, पारसनाथ-हिल की सबसे ऊँची चोटी की चट्टान पर एक प्रकृत पादुका उत्कीर्ण है। जाने कहाँ से आकर उस पर पारिजात फूल झरते रहते हैं। इन सत्ताईस शताब्दियों के आरपार, जब-तब कई अन्तर्दर्शी योगियों ने साक्षी दी है कि, उस चरण-पादुका के समीप कभी-कभी, उदय और अस्त की सन्ध्याओं में, एक ऐसी सुनीला सुन्दरी विचरती दिखाई पड़ती है, जिसके यौवन और सौन्दर्य की प्रभा आज तक वैसी ही अमन्द बनी हुई है।

(29 मार्च, 1973)

स्वयंनाथ : सर्वनाश

आख्यान चेलना और श्रेणिक का

मगध के सम्राट् बिम्बिसार श्रेणिक अपने 'महानील प्रासाद' की सबसे ऊँची छत पर अकेले खड़े हैं। सई साँझ ही विपुलाचल के शिखर पर चैती पूनम का बड़ा सारा चाँद उग आया है। छत की स्फटिक रेलिंगों और नीलमी फर्श में चाँदनी झलमला रही है। उद्यान के आम्र-वनों में से मंजरियों की हलकी-हलकी महक हवा में सपने तैरा रही है।

रेलिंग पर खड़े सम्राट् की निगाह, जहाँ तक जा सकती थी, उससे आगे चली गयी है। उन्हें नहीं पता कि वे कहाँ हैं, क्या खोज रहे हैं, क्या चाहते हैं ?

एकाएक बहुत ही महीन नूपुर-रव से सम्राट् का एकान्त चौकन्ना हो उठा। वैशाली की विचित्र फुलेल-गन्ध ने मगधेश्वर के अज्ञातों में यात्रित मन को सहसा ही टोक दिया।

"स्वामी, मैं ही हूँ, और कोई नहीं...!"

"आओ चेलनी, मगध की महारानी को झिझक कैसी ?"

"सम्राट् का एकान्त मैंने भंग कर दिया।"

"सम्राज्ञी का उस पर निर्बाध अधिकार है।"

"देखती हूँ, बहुत दिनों से उसकी सहचारिणी नहीं रह गयी हूँ !"

"चेला, तुम तो अपनी जगह पर हो, शायद मैं ही वहाँ नहीं हूँ। विचित्र लगेगा तुम्हें, नहीं ?"

"कहाँ विचर रहे हैं, मेरे देवता ?"

"तुम्हारी आँखों के मृग-वन में !"

"मृग-मरीचिकाओं में विहार करके क्या पाएँगे ? क्या खोज रहे हैं वहाँ, स्वामिन् ?"

"कस्तूरी...!"

"मेरे देवता को वहाँ कस्तूरी मिली ?"

"रानी की कंचुकियों का अन्त नहीं, और नाभि-कमल की गहराइयाँ अथाह हैं। थाहते-थाहते थक गया हूँ।"

"फिर भी कस्तूरी नहीं मिली ?"

"महारानी अपने मनोदेश में से जाने कहाँ चली गयी हैं ? अभी तो उन्हीं की तलाश में हूँ !"

"मैं तो अपनी जगह पर हूँ...! लेकिन देवता के चरणों में भी हूँ ही। पर वे चरण ही यहाँ नहीं हैं।"

"कहाँ चले गये हैं, प्रिये ?"

"मेरे अपने ही बहुत भीतर, जाने कहाँ विलीन हो गये हैं।"

"विपुलाचल पर उदय होते उस चन्द्रमा में देखो, चेला। शायद वहाँ दिखाई पड़ जाएँ...!"

"देख रही हूँ, वे कमल-चरण दूर-दूर चले जा रहे हैं, आँखों के पार !"

"चेलनी के बाहु-मृणाल, क्या उन्हें बाँधकर लौटा लाने में असमर्थ रहे ?"

"शायद,...छोटे पड़ गये। मृणाल से छूटकर कमल जाने कहाँ भाग निकले हैं ?"

"तो छोड़ो चेला, उन्हें अपनी राह जाने दो, क्यों परेशान होती हो ?"

"परेशानी अपने लिए नहीं, उनके लिए है। वे मुझमें न सही, अपने में ही लौट आयें। फिर मैं तो वहाँ हूँ ही।"

"तुम तो अपनी जगह पर हो, तुम वहाँ कहाँ हो ?"

"अपने में होकर भी, मैं सब कहीं हूँ, और कहीं नहीं हूँ !"

"फिर तुम्हें कैसे पा सकता हूँ ?"

"अपने में...!"

"काश, मैं अपने में रह सकता !"

"मगध के सम्राट् को किस बात की कमी है ?"

"तुम्हारी...!"

"अपनी चेलना को क्यों लज्जित करते हैं ? मैं कहाँ चली गयी हूँ ?"

"तुम्हीं जानो, रानी !"

"छोड़िए मुझे, अपने बाहुबल से अर्जित विशाल मगध साम्राज्य की प्रभुता को देखिए। राजगृही के पण्यों में 'स्वयम्भू-रमण समुद्र' के रत्न परखे जाते हैं। उसके सुगन्ध उपवनों की चाँदनी रातों में देव-देवांगनाएँ रमण करने को उतरते हैं। उसके विपुलाचल पर तीर्थंकर महावीर का समवसरण विहार करता है। उसके राजपथों पर धर्मचक्र प्रवर्तमान है। महाराज बिम्बिसार श्रेणिक ऐसी तीर्थभूमि के सम्राट् हैं। उन्हें किस बात की कमी है ?"

"चेलनी की, जो इस साम्राज्य से निर्वासित हो गयी है...!"

"अपने भीतर के अन्तःपुर में आओ देवता, मैं तो वहाँ चिरकाल से तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठी हूँ !"

"मुझे वहाँ लिवा ले चलो, प्राण ! मेरे बस का अब कुछ भी नहीं रहा...!"

"चलिए न कल सवेरे, 'सम्यक् उपवन' में विहार किये कितने दिन हो गये ! वहाँ के 'अन्तर-मणि सरोवर' में तुम्हारे साथ जल-क्रीड़ा करने को जी चाहता है। वसन्त की पराग-शय्या पर वहाँ मृग-युगल परम केलि में लीन रहते हैं।"

"ऐसे किसी उपवन या सरोवर का नाम तो अपने साम्राज्य में हमने नहीं सुना, देवि !"

"सम्राज्ञी ने सुना है...! कल अपने 'सहस्रार-रथ' पर आपको वहाँ लिवा ले चलूँगी ! चलेंगे न मेरे साथ ?"

"वहाँ कस्तूरी मिलेगी ?"

"अथाहों को थाहोगे, तो मिलेगी।"

"तुम्हारी आँखों की इस गहन कजरारी रात में आज कहाँ रहना होगा, प्राण ?"

"चेलनी के कमल-कक्ष का द्वार, आज रात देवता के पग-धारण की प्रतीक्षा करेगा।"

अपने हीरक-नूपुरों की झलमलाती झंकार से पूनम की चाँदनी में लहरें उठाती हुई महारानी चेलनी धीरे-धीरे चली गयीं।

महाराज ने उमँगकर, चाँद को आरसी की तरह आसमान के आलय पर से उतार लिया, और उसमें अपना चेहरा निहारने लगे। देखकर उन्हें अपने आप पर ही प्यार आ गया।

o o o

अस्ताचल पर विशाल भामण्डल-सा चन्द्रमा निर्वाण की तट-वेला की ओर तेजी से बढ़ रहा था। ड्राभा में छिटकी बहुत ही सूक्ष्म आँचल-सी चाँदनी में, मगध की महारानी चेलना अपने 'सहस्रार रथ' का स्वयं सारथ्य करती हुई, महाराज बिम्बिसार को 'सम्यक् उपवन' में विहार कराने ले जा रही हैं। पारिजात फूलों का भीना-भीना परिमल, ब्राह्मी-वेला की संजीवनी हवा में अनजान गहराइयाँ खोल रहा है।...

...'सम्यक् उपवन' के तमाल-कुंज की घनी छाँव में केवल एक नीली तारिका की अकेली किरन खेल रही है। वैशाली की वैदेही के घने कुन्तलपाश में वह भी अचानक खो गयी। उस सुरभित अन्धकार की नीली आभा में डूबकर श्रेणिकराज ने चेलनी के वक्ष पर से सिर उठाया। पूछा प्रिया ने :

"कस्तूरी मिली...?"

"मिलकर भी वह तो फिर-फिर हिरन हो जाती है, चेला। तुम्हारी लीला अपरम्पार है। पाकर भी तुम्हें पा नहीं सका। तुम्हारे अणु-अणु में

रमण करके भी तुम्हें जान नहीं सका। कमल की पाँखुरी पर ओस-बिन्दु ठहर नहीं पाता है। तट की रेती को छलकर समुद्र फिर-फिर अपने क्षितिजों में बिलम जाता है।''

''तो आओ प्रियतम, अन्तरमणि सरोवर में जल-क्रीड़ा करें।''

चन्द्रमा अस्ताचल की घाटी में उतर गया। अन्तर-मणि सरोवर के चारों ओर घिरी मन्दार तरुमाला में रात का आखिरी पहर जाते-जाते ठिठक गया है। आज की भोर उगनेवाला सूरज इस घड़ी विदेह-राजबाला चेलनी की कंचुकी में बन्दी है।

...चिदम्बरा आज यहाँ दिगम्बर के साथ रमण करने आयी है।... अन्तरमणि सरोवर के नीलमी जलों में वसन तरल से तरलतर होते हुए, जाने कब आपोआप ही उतरकर अपने आप में लीन हो गये।

निर्ग्रन्थ वैदेही की बाहुओं में शरण खोजते-से श्रेणिकराज एक शिशु की तरह ढुलक पड़े।...और चेलनी की अन्तिम कंचुकी के बन्द तोड़कर पूर्वांचल पर सूरज की रक्ताभ किरण फूट पड़ी।...महाराज ने अपने सिर को अपनी ही बाँहों में ढलका पाया। उनका अन्तस्तल आर-पार बिंध गया।...

...तट पर खड़ी महारानी पुकार रही थीं :

''दिन उग आया, प्रभु ! चलिए चैत्य-कानन में विहार करने की वेला आ पहुँची।''

महाराज एक विचित्र द्वाभा में खोये-से महारानी के साथ चलने लगे। रात भी नहीं है, दिन भी नहीं है : उनके अन्तर में कोई तीसरी ही वेला बाहर आने को सुगबुगा रही है। अखण्ड मौन में दोनों साथ-साथ चले आ रहे हैं। बाहर तपोवन तपे हुए हिरण्य की आभा से दीपित है; लेकिन मगधेश्वर की आँखें अपने भीतर ही जाने क्या खोजती चली जा रही हैं।

विहार करता-करता राजयुगल 'मण्डित कुक्षि' नामक चैत्य से गुजरा। महाराज एकाएक बहिर्मुख हो आये। देखते क्या हैं कि एक वृक्ष के मूलदेश में एक अति सुन्दर सुकुमार युवा दिगम्बर स्वरूप में समाधिस्थ है। देखकर

महाराज का हृदय सहसा ही मर्माहत हो गया। चलते-चलते वे ठिठक गये। एकटक उस तरुण तपस्वी को निहारते रह गये। मन-ही-मन वे सोचने लगे : अरे, स्वर्ग की मन्दार-शय्या त्यागकर यह कौन देवकुमार, मर्त्यों की पृथ्वी पर ऐसी कठोर तपस्या करने को उतर आया है। अपने स्वर्ग में इसे किस सुख की कमी रह गयी ? क्या अपनी देवांगना की केसर-कोमल बाँहों में भी इसे जी-चाहा सुख न मिल सका ? जानना चाहता हूँ, इसके मन में ऐसी कौन-सी व्यथा समायी है, जो यह अपनी सोने की तरुणाई को यों मिट्टी में मिला रहा है।

...युवा तपस्वी कायोत्सर्ग से फिर काया में लौट आये। उनकी आँखें दूर पर खड़े युगल की ओर उठीं। वीतराग स्थिति के साथ वे सर्व चराचर के अंश रूप राजा-रानी को भी सम्यक् दृष्टि से देखते रहे।

तपस्वी के युगल चरणों में नमन कर, प्रदक्षिणा देकर, न बहुत दूर, न बहुत पास खड़े रहकर, सम्राट् श्रेणिक ने पूछा :

"हे आर्य, ऐसी कोमल कुमार वय में तुमने ऐसा उग्र तप क्यों धारण किया है ? रत्नों के पलंग पर, फूलों की सेजों में क्रीड़ा करने लायक सौन्दर्य और यौवन लेकर, विजन अरण्यों की कण्टक-शय्या पर क्यों उतर आये हो ?"

"इसलिए राजन्, कि मैं अनाथ था ! मैंने पाया कि कोई आत्मीय और मित्र यहाँ नहीं है। कोई अपना नहीं है। मुझे पूर्ण सहानुभूति और अनुकम्पा कहीं न मिल सकी। इसी से मैं इस संसार से अभिनिष्क्रमण कर गया।"

सुनकर मगधेश्वर गम्भीर हो गये। ऐसे ऋद्धिमान् और कान्तिमान् युवा को किसी ने अपनाया नहीं ? इसे कोई वल्लभ न मिला, कोई स्वामी न मिला ?...हो नहीं सकता। कान्तार के काँटों और कंकड़ों में इसने आश्रय खोजा है। लड़का बहुत नादान मालूम होता है। महाराज करुणा से कातर हो आये।

"संयतिन्, ऐसे सौन्दर्य और वैभव को किसी ने अपनाया नहीं ? उसे

कोई नाथ और साथ न मिला ? समझ में नहीं आता। मगधनाथ श्रेणिक के देश में कोई अनाथ नहीं रह सकता। मैं तुम्हें सनाथ करूँगा। चलो, मेरे महलों का ऐश्वर्य तुम्हारी प्रतीक्षा में है। और आर्यावर्त की सौन्दर्य-लक्ष्मी चेलना की गोद तुम्हें शरण देगी।"

"राजेश्वर, तुम, तुम्हारी राजेश्वरी और तुम्हारा वैभव, सभी तो अनाथ हैं। और जो स्वयं ही अनाथ है, वह दूसरे को सनाथ कैसे कर सकता है ?"

मगधेश्वर से ऐसी दुःसाहसिक बात कहने का साहस तो आज तक किसी ने किया नहीं था। सुनकर वे विस्मय से अवाक् रह गये।

"सुनो आरण्यक, इन्द्रों और माहेन्द्रों के स्वर्ग राजगृही की रत्निम छतों पर निछावर होते हैं। अप्सराएँ मेरे अन्तःपुरों को तरसती हैं। और तुम मुझे अनाथ कहते हो ? आश्चर्य !"

"हे पार्थिव, काश अनाथ और सनाथ के परम अर्थ को तुम जान सकते ? वह केवल अनुभवगम्य है।"

"योगिन्, आपत्ति न हो, तो तुम्हारा अनुभव सुनना चाहता हूँ।"

"राजन्, लोक-विश्रुत प्राचीन नगरी कौशाम्बी का नाम तुमने सुना होगा। मैं वहीं के राजा धनसंचय का पुत्र था। आरम्भिक तरुणाई में ही एक बार मेरी आँखों में असह्य पीड़ा उत्पन्न हुई। और उसके कारण मेरे सारे शरीर में दाह-ज्वर व्याप गया। अंग-अंग में अंगार-से धधकने लगे। किसी शत्रु के तीखे शस्त्रों के फल-जैसे मेरे रोम-रोम को बींधने लगे। इन्द्र के वज्र की तरह उस दाह-ज्वर की वेदना मेरी कमर, मस्तक और हृदय को उमेठने लगी। मेरी छटपटाहट देखकर मेरे स्वजनों की आँखें मुँद जातीं। मेरी आर्त चीत्कारें सुनकर वे अपने कानों में उँगलियाँ दे लेते।

"समस्त देश के निष्णात वैद्य, तान्त्रिक-मान्त्रिक मेरी चिकित्सा के लिए बुलाये गये। आयुर्वेद, मन्त्र-तन्त्र, जड़ी-बूटी सब पराजित हो गये। चन्द्रकान्त मणि के शीतल जल भी मेरे उस दाह को शान्त न कर सके।

"मेरे पिता का अपार वात्सल्य और वैभव भी मुँह ताकता खड़ा रह

गया। वह भी मेरा परित्राण न कर सका।

"माँ की अगाध ममताली गोद से भी उछलकर मैं धरती पर आ गिरता। एकाकी और अनाथ चीखता रहता। सान्त्वना के शब्द फूट नहीं पाते थे।

"एक ही माँ के जने भाइयों और बहनों के प्यार और परिचर्या ने भी हार मान ली।

"और मेरी परम सुन्दरी पत्नी थी। वह मुझे ही परमेश्वर समझती थी। उसकी पति-भक्ति लोक में अनुपम थी। रात और दिन का भान भूलकर वह मुझी में रमी रहती। ऐसा लगता था कि उसकी आत्मा मेरी आत्मा से भिन्न नहीं है। अटूट वह, मेरे अंग-अंग से जुड़ी रहती। वह सच्चे अर्थ में मेरी अर्द्धांगिनी थी। भोजन, वसन, शयन, सुगन्ध, शृंगार सभी का परित्याग कर, केवल मुझी में उसका प्राण अटका रहता। क्षण-भर के लिए भी मेरे माथे को वह अपनी गोद से न उतारती। अपनी किसलय-कोमल बाहुओं से वह हर समय मुझे घेरे रहती। तुहिन से भी तरल और मृदुल अपनी उँगलियों के परस से वह मेरा पोर-पोर सहलाती रहती। अपनी भुवन-मोहिनी आँखों से हर समय वह मुझे ही एकटक निहारती रहती। अपने मलयानिल-जैसे कुन्तलों से वह मुझे छाये रहती। अन्तरतम प्रीति के आँसुओं से वह मेरे हृदय को निरन्तर सींचती रहती।

"किन्तु हे पार्थिव, ऐसी परम वल्लभा प्रिया भी मेरी उस पीड़ा की सहभागिनी न हो सकी। उसके भीतर भी मेरी आत्मा को शरण न मिली। ...तब अन्तिम रूप से मुझे यह प्रतीति हो गयी, कि संसार की बड़ी-से-बड़ी प्रीति भी मनुष्य को सनाथ नहीं कर सकती। यहाँ की हर वस्तु, यहाँ का हर व्यक्ति अनाथ है, अनालम्ब है। कोई किसी को सहारा नहीं दे सकता।

"एक रात के मध्य प्रहर में, मेरी पीड़ा पराकाष्ठा पर पहुँची। मृत्यु मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी।...उस क्षण प्रिया का आखिरी आँसू मेरे सिसकते होठों पर गिरा, और व्यर्थ होकर ढुलक गया।...मैं अन्तिम रूप से अनाथ हो गया। चरम विरह की अन्धकार रात्रि मेरे भीतर व्याप

गयी।...अन्तर-मुहूर्त मात्र में अपने भीतर से भी भीतर के भीतर में मैं जाग उठा..."

"मैंने मन-ही-मन संकल्प किया : इस रात के बीतने तक, यदि मेरी वेदना दूर हो जाएगी, तो कल सबेरे में अभिनिष्क्रमण करके अनगारी प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँगा।...

"हे देवानुप्रिय, इस संकल्प के साथ ही मेरी पीड़ा, उतरते ज्वार की तरह धीरे-धीरे कम होती चली गयी।...ब्राह्म-मुहूर्त में मैंने अनुभव किया कि मेरी पीड़ा सर्वथा तिरोहित हो गयी है : मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया हूँ। ...और सूर्य की पहली किरण फूटने के साथ ही, अपनी प्रिया और परिजनों के क्रन्दनों को पीठ देकर, मैं राजमहल से अभिनिष्क्रमण कर गया !..."

क्षण-भर को एक अफाट मौन में, सारा वन-प्रान्तर विश्रब्ध हो गया। तब श्रेणिकराज की चरम जिज्ञासा मुखर हो उठी :

"फिर कहीं शरण मिली, आर्य ?"

"निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के श्रीचरणों में जाकर मैं समर्पित हो गया। कैवल्य-ज्योति का दर्पण सम्मुख था। उसमें अपना असली चेहरा पहली बार देखा। मैंने अपने को पहचान लिया।...मुझे शरण मिल गयी।"

"निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के चरणों में ?"

"नहीं, अपने भीतर। अपने स्वरूप में !"

"फिर क्या हुआ, योगिन् ?"

"मैं अन्तिम रूप से सनाथ हो गया। मैं स्वयंनाथ हो गया। और अपना नाथ होकर, मैं सर्व चराचर का नाथ हो गया।"

"सो कैसे, भगवन् ?"

"अब निखिल चराचर मेरे भीतर है, और मैं उसके भीतर हूँ। बाहर कुछ भी नहीं रहा। विरह सदा को मिट गया। पूर्ण मिलन हो गया।"

"मैं प्रतिबुद्ध हुआ, भगवन्, आपकी जय हो !"

और अब तक मौन खड़ी मगध की राजेश्वरी एकाएक पुकार उठी :

"आर्यावर्त के बाल-योगीश्वर जयवन्त हों !"

और राज-दम्पती एक साथ, योगी के चरणों में साष्टांग प्रणिपात में नमित हो गये। जाने कितने क्षणों बाद वे उठे, तो पाया कि योगी वहाँ नहीं थे। चैत्य-कानन की वीथिका में एक अरूप आभा दूर-दूर चली जा रही थी।

o o

प्रतिपदा का सुवर्णाभ चन्द्र-मण्डल, आज की सन्ध्या में चेलों के वातायन पर उतर आया है।

"चेला, आज तुम्हें पहली बार पहचाना ?"

"अपने देवता को, आज पहली बार मैं अन्तिम रूप से पा गयी।"

"मुझे भीतर ले चलो, आत्मन् !"

"चलो मेरे नाथ, विपुलाचल के शिखर-देश पर, अनन्त शयन हमारी प्रतीक्षा में है...!"

...दिगन्तवाहिनी हवा में जाने कैसी केसर महक रही है।

(25 दिसम्बर, 1972)

एक और नीलांजना

आख्यान ऋषभदेव और अप्सरा नीलांजना का

सुना जाता है, अयोध्या शाश्वत नगरी है। काल के चक्रावर्तन में, अपने नियोजित समय पर वह प्रकट होती है, और अवधि पूरी होने पर फिर अन्तर्धान हो जाती है। हर भोग-युग की समाप्ति पर, कर्म-युग के आरम्भ में, वह नयी होकर अवतरित होती है। वह अ-योध्या है : किसी युद्ध और योद्धा से वह कभी जीती नहीं गयी। सदा कुँआरी रही। कर्म-भूमि के आदि ब्रह्मा की वह इच्छा-नगरी है। उनकी इच्छा की एक तरंग पर, रात के किसी अलक्ष्य क्षण में वह पृथ्वी पर उतर जाती है। सवेरे सूर्योदय में, अकस्मात् नारंगी रत्नों की राशि से जैसे सारी पृथ्वी जगमगा उठती है।

वर्तमान काल-चक्र के अवसर्पिणी क्रम में भी वह अयोध्या लाखों वर्ष पहले, इसी तरह प्रकट हुई थी। इस युग के आदि विश्वकर्मा तीर्थंकर ऋषभदेव के अमोघ संकल्प की वह स्वयम्भुवा जाया थी।

उसी अयोध्या के सिंहासन पर सहस्रों बरस अपनी रची सृष्टि का सुखोपभोग कर, महाराज ऋषभदेव ने एक दिन सहसा ही कुछ विचित्र उपरामता अनुभव की। उन्हें लगा कि समस्त लोक की रचना करके भी, उसका निर्बाध भोग करके भी, वे तृप्त नहीं हो पाये हैं। भीतर की इस अतृप्ति का अन्त नहीं। अन्दर के एक ऐसे रिक्त के सामने वे आ खड़े हुए हैं, जो अनिर्वार है और असह्य है। अपनी विराट् रचना में आदि ब्रह्मा को अपने इस रिक्त की पूर्ति कहीं नहीं मिल रही।

यह अयोध्या का 'सर्वकामपूरन राजमहल' है। समस्त पार्थिव कामनाओं

को तृप्त करनेवाली भोग-सामग्री इसमें मौजूद है। इसके मणि-दीपों की निश्चल-प्रभा, इस आधी रात में, जैसे एकाएक बेचैन हो उठी है। यह रात मानो उसमें करवटें बदल रही है। एक सुगन्ध का समुद्र अपनी अनन्त लहरों का अतिक्रमण कर, कहीं और ही बहा जा रहा है।

अखण्ड नीलम चट्टान में से उत्कीर्ण, अपने शयन-कक्ष के अन्तर-द्वार में से महारानी यशस्वती एकाएक आविर्मान हुई।

तमाम समुद्रों की लहराती जलराशियाँ, जैसे किसी एक ही विशाल रत्न में बँध आयी हों, ऐसी एक मकराकृति शय्या के गहराव में ऋषभेश्वर अधलेटे हैं। उस शय्या के सहस्र फणाकार छत्र की नीलकान्त मणियों के बहुत ही महीन और मृदु आलोक में, मानो सारा कक्ष तैर रहा है।

ताजा कमलिनियों की राशि पर पड़े महाराज के निष्कम्प चरणों में अचानक बेमालूम-सा गहरा दबाव अनुभव हुआ।

"ओ...यशस्वती, तुम हो !"

"हाँ नाथ, मैं ही हूँ। बहुत दिनों बाद श्रीमुख के दर्शन हुए !"

ऋषभ चुप, स्थिर, रानी की उन्मीलित आँखों में छलकती अंजुलि को मानो दर्पण हो रहे।

"क्या सोच रहे हैं, प्रभु ?"

"नहीं, सोच कुछ नहीं रहा, यश। वैसे भी सोचता कब था। बस, करता था, या कुछ नहीं करता था। सोचना मुझे सदा अनावश्यक रहा। वह मेरा स्वभाव नहीं।"

"ओह, अपने अणु-अणु में जिसे युगों से बसाये रही, उसके स्वभाव को आज पहली बार जाना। अपूर्व है यह क्षण !..."

"मैं ही तुम्हें कितना जानता हूँ, यश ?"

"अपने जाने तो मैंने कुछ भी छुपाया नहीं, बचाकर नहीं रखा।"

"काश, तुम भी अपने को पूरा जानती होतीं !"

"नहीं जानती हूँ, इसी से तो कहती हूँ, कि मुझे खोलो, मुझे आर-पार खोल दो। मेरे सूरज, मुझमें आर-पार आओ, ताकि तुम्हें जान सकूँ पूरा,

और अपने को भी।"

"उस संक्रमण में क्या कमी रही, यशस्वती ?...तुम्हारी कोख से जन्मजात योगी भरत जनमा।...फिर भी मेरा सूरज क्या तुम्हारी रक्त-शिराओं के पार जा सका ?"

"कई बार लगा है, कि तुम्हारे वक्ष में निरी नग्न, आर-पार ज्वाला होकर रह गयी हूँ। पर अपनी अग्नि, अपने ही को असह्य हो गयी।...तब क्यों मुझे अपने ही में छोड़ दिया, निराधार जलने को ?"

"वह अनिवार्य है, यश ! वह स्वयम्भू है। वह स्वभाव है। उसमें मेरा कर्तृत्व नहीं, मेरी विवशता भी नहीं। तुम्हारी भी नहीं। बस, वही तुम थीं...हो।"

"इतनी निरालम्ब न करो, मेरे देवता ! मुझे थामो, मैं गिर जाऊँगी।"

"अब तक नहीं गिरीं, तो अब कैसे गिर जाओगी...?"

"देख रही हूँ, भरमा रहे हो। नहीं, मेरे साथ अब और चौसर न खेलो। तुम्हारे चक्रव्यूहों से मैं बहुत तंग आ गयी हूँ।...मुझे लो, और मत रहने दो !"

"तुम्हारे अतलान्तों के पार गया हूँ, फिर भी तुम्हें कहाँ ले पाया ? वह स्वभाव नहीं, यश, सो वह सम्भव नहीं।"

"आदि ब्रह्मा वृषभदेव के लिए क्या असम्भव है ! यह समस्त लोक तुम्हारी उँगलियों का खेल है, मेरे स्वामी ! तुम निखिल के स्रष्टा और निर्बाध भोक्ता हो। तुम और असम्भव ? कैसी अनहोनी बातें आज तुम्हें सूझ रही हैं !"

"स्रष्टा मैं नहीं, सृष्टि स्वयं अपनी स्रष्टा है। लोक मेरी उँगलियों का खेल नहीं, अपनी ही उँगलियों का खेल स्वयं आप है। मैं इस रहस्य को अब प्रतिक्षण साक्षात् कर रहा हूँ। इसी से अब लगता है कि..."

"क्या लगता है...?"

"लगता है कि कुछ होनेवाला है...!"

"क्या होनेवाला है...क्या...क्या...बोलो न !...बहुत दिनों से देख रही

हूँ, मेरे प्राणेश्वर अब मुझमें नहीं हैं, इस महल में नहीं हैं, इस लोक में नहीं हैं। कितने दूर हो पड़े हो तुम : ये चरण मेरी हथेलियों में होकर भी, मेरी पकड़ में नहीं आ पा रहे ! यह तुम्हें क्या हो गया है, मेरे वल्लभ ! लोक की अनन्त रचनाओं का विश्व-कर्मा, लोक में से निर्वासित हो गया है ! जो चाहो, वह तुम रच सकते हो ! तुम अखिल, अनन्त के रचनाकार हो : मनचाहा रचो और भोगो। मुझे रचो नाथ, मुझे हर दिन नयी रचो, और मुझमें हर दिन नव-नूतन रमण करो।''

"नहीं, यश, वह भ्रान्ति अब टूट गयी। क्या नहीं रचा गया लोक में, मेरे हाथों। मेरी निष्काम इच्छा की एक तरंग पर, रातोंरात अयोध्या-जैसी रत्निम नगरी उतर आयी। सहस्रों वर्षों में अपार वैभव और ऐश्वर्य, मेरे बिन चाहे भी, मेरे आसपास हिलोरें लेता रहा। मेरा हर सपना यहाँ पदार्थ बना, साकार हुआ। सर्वार्थसिद्धि के पूर्णकाम भोग, अयोध्या के राजमहलों पर निछावर हुए। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ मेरे चरणों में लोटीं। तुम और सुनन्दा मेरी बाहुएँ बनकर रहीं—तुम-सी सुन्दरियाँ—इन्द्राणियों का लावण्य, जिनकी पगतलियों में महावर बनकर रच गया !...सच है, यश, यह सब सच है,...किन्तु फिर भी लग रहा है, कि मेरा सपना यहाँ सम्पूर्ण साकार नहीं हो सका। हो सकता, तो यह अतृप्ति की फाँस, क्यों दिन-रात मेरे हृदय में कसक रही है...?''

''बोलो, जी खोलो, सुन रही हूँ।''

''तब साफ है कि यह सब स्वयं अपनी रचना है, मेरी नहीं। मेरी रचना होती, तो यह मेरी पूर्ण तृप्ति बनती। इसमें मैं पूर्णकाम होता। स्पष्ट है कि मैं हूँ केवल इसका निमित्त, कर्ता नहीं ! यहाँ हर वस्तु स्वयं अपनी कर्ता है। कोई किसी का कर्ता, धरता, हर्ता नहीं। यहाँ हर वस्तु स्वतन्त्र है, स्वयं आप हैं, स्वयं अपनी कर्ता, धरता और हर्ता है।''

"सर्वशक्तिमान् ऋषभदेव आज कैसी बातें कर रहे हैं। कर्मभूमि के आद्य प्रवर्तक, अवसर्पिणीकाल के आदिमनु, कुलकर, लोकनायक तीर्थंकर ...और अकर्ता ? आश्चर्य !''

"हाँ, यश, सच कह रहा हूँ। जो साक्षात् देख रहा हूँ, वही बोल रहा हूँ। सब कुछ रचकर भी, मैंने अपने को नहीं जाना, नहीं रचा। अपने स्वप्न को मैं अपने ही भीतर सम्पूर्ण रच सकता हूँ, भोग सकता हूँ, जी सकता हूँ। बाहर कहीं नहीं। बाहर केवल वह प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसमें विकल्प नहीं हो सकता। यह उतना ही प्रत्यक्ष है, जितनी इस क्षण तुम मेरी आँखों के सामने हो। नहीं यश, यह सत्य तुमसे भी अधिक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षतर होकर झलक रहा है--मेरे भीतर।"

"तो यशस्वती कम पड़ गयी, मेरे देवता को ?"

"कम नहीं पड़ गयीं तुम, बहुत अधिक हो गयी हो। अपरम्पार हो गयी हो। इतनी, कि अपने में तुम्हें समूची समेट और समा लेने को, जैसे मेरे भीतर का अवकाश कम पड़ गया है।...मेरी बाहुएँ छोटी पड़ गयी हैं, आज तुम्हें समग्र बाँध लेने को। लग रहा है कि तुम्हें समूची पाने को, अपने भीतर के असीम अवकाश को पा लेना होगा !"

"स्वामी, चुप करो, मुझे यों निराधार करके शून्य की अन्धी खाई में न फेंको...!"

"सर्वकाल के तमाम समुद्रों को अपने में बाँधे, यह रत्न-शय्या साक्षी है : इसकी अगाध गहराइयाँ साक्षी हैं...मैं इसमें असंख्य रातों तुम्हारे भीतर डूबा, फिर भी क्या तुम्हें जान पाया, थाह पाया, जी पाया, बाँध पाया ?"

"अपनी बाँहों की शक्ति को तुम नहीं जानते, मैं जानती हूँ, मेरे नाथ, मेरे पुरुष ! मैं, जो बँधकर रह गयी हूँ उनमें, समूची। मैं, जो मिट गयी हूँ तुम्हारे भीतर...मैं, जो नहीं रह गयी हूँ...!"

"रह गयी हो, यशस्वती, रह गयी हो। निःशेष नहीं बँधी हो, नहीं मिटी हो, इसी से तो इतनी मोह-कातर हो गयी हो, और बोल रही हो अब भी ! तुम अब भी मेरी वियोगिनी ही हो, योगिनी नहीं...!"

"वह मेरा सामर्थ्य नहीं, मेरे समर्थ, तुम्हीं चाहो तो वह मुझे बना सकते हो।..."

"बना कोई किसी को कुछ नहीं सकता, स्वयं बन जाना होता है !"

"बस, मैं तो तुम्हारी समर्पिता हूँ, शेष तुम जानो..."

"तो साक्षी बनो, मेरी और अपनी भी।...जो होने जा रहा है, उसके लिए तैयार हो जाओ; उसे देखो, उसे समझने की कोशिश करो...!"

"क्या हुआ चाहता है, मेरे प्रभु ! क्या होने को है मेरा, तुम्हारा...?"

"कुछ होनेवाला है, जो अपूर्व होगा।...सारे लोकाकाश में एक विचित्र कम्पन हिलोरें ले रहा है...आज की रात ! कुछ ऐसा आकार लिया चाहता है, जो पहले आकृत न हुआ...!"

"तुम्हारी यश से परे का कोई रूप, लावण्य, सौन्दर्य ?"

"हो सकता है,...मुझसे भी परे का सौन्दर्य, तुमसे भी परे का सौन्दर्य, जो तुम्हारा ही है, मेरा ही है, पर जिसे हम शायद जानते नहीं हैं !"

"मेरे सर्वस्व, मेरे आत्म-पुरुष !..."

...और जन्मजात योगीश्वर भरत की जनेता, महारानी यशस्वती, तीर्थंकर वृषभदेव के सर्व चराचर में विचरण करनेवाले चरणों में माथा ढालकर सिसकती रह गयी। मेरु-निश्चल ऋषभ उसकी विरह-वेदना को देख रहे हैं, जान रहे हैं, उसके साथ तदाकार हो गये हैं : अपने आप में अन्तर्लीन।

○ ○ ○

सम्राज्ञी के इस शयन-कक्ष में सदा रात ही रहती है। बाहरी अन्तरिक्ष के सूर्य को यहाँ प्रवेश नहीं। यहाँ के एकमेव सूर्य हैं केवल ऋषभदेव। शेष में दिव्य मणि-दीपों, तथा रत्न-कणियों से गुँथी भारी यवनिकाओं से ही यह कक्ष आलोकित रहता है।

...ऋषभेश्वर जागकर उठे, तो महारानी की अंजुली में थमे ताजा सहस्रदल कमल पर, उनका मुख-मण्डल सूर्य-सा उदय हो गया। 'ॐ सोऽहं' की अस्फुट ध्वनि अनायास ही उनके होठों से उच्छ्वसित हुई : श्वास का

भी अवकाश बीच में नहीं रहा : दो दूसरे होठों के मदिरा-चषक में वह डूब गयी।

"मुझसे परे का सौन्दर्य मिला, प्रभु ?"

"कहाँ से मिलता रानी, तुम्हारी वारुणी के समुद्र का पार नहीं।"

"मैंने कब अवरोध दिया है ?...और इस रात तो तुम्हीं रह गये थे : मैं तो रही केवल तुम्हारी अग्नि : तुम्हारी हर कामना की अग्नि-तरंग...!"

"यही तो मुश्किल है। मेरी अग्नि ही जब मदिरा बनकर ढल गयी मेरी आँखों में, मेरे अणु-अणु में, तो तुम्हारे पार भी केवल तुम्हीं को देख पा रहा हूं, यश, केवल तुम्हें ! लग रहा है, अपरम्पार हो तुम ! मेरी हर पुकार में, और उसके छोर पर तुम खड़ी हो।...मेरी खोज तुमसे आगे नहीं जा पा रही...!"

"सच, मेरे आप, मेरे अहं, मेरे सोऽहम्...!"

"चैत्य-पूजा का समय हो गया, देवि ! मेरी आँखों में ढली अपनी खुमारी को पी लो, और जाने दो...!"

वल्लभा, वल्लभ की दोनों आँखों को हौले-से चूमकर बोली :

"नहीं, आज नहीं जाने दूँगी।...अब कहीं नहीं जाने दूँगी...तुम्हारा भरोसा नहीं रहा। बड़े खतरनाक हो तुम, ओ मेरे पुरुष !"

और सहस्राब्दि वर्षों के राज्यकाल में पहली बार, उस दिन की प्रातःकालीन राजसभा में, राजराजेश्वर वृषभनाथ के सिंहासन पर उदय होनेवाला सूर्य, सूना ही बीत गया।

o o o

लौकान्तिक स्वर्ग का इन्द्र चिन्ता में पड़ गया।...जागकर भी फिर सो गये महाविष्णु ऋषभदेव ! उनके अनन्त शयन को कमला ने ओर-छोर छा लिया है।...नहीं, अब विलम्ब शक्य नहीं। आदि ब्रह्मा के ब्रह्म-स्वरूप हो जाने

का अनिवार्य मुहूर्त आ पहुँचा है। लोक का कण-कण प्रकाशित होने को व्याकुल है। वह अपने तीर्थंकर को पुकार रहा है। महासत्ता के गर्भ में कैवल्य-सूर्य कसमसा रहा है। आदिम अन्धकार की परत-परत काँप रही है। 'सर्वकामपूरन महल' के शयन-कक्ष की मादक तमसा, त्रिलोक और त्रिकाल के सूर्य को बाँधकर नहीं रख सकती। शक्रेन्द्र ने पुकारा :

"नीलांजना...!"

"और सोलहों स्वर्गों का सारभूत सौन्दर्य, नीलांजना प्रस्तुत होकर, प्रणिपात में नमित हो गयी।

"नीलांजना, महाविष्णु ऋषभदेव ने तुम्हें याद किया है। हमारे समस्त स्वर्गों की रूप-शिखा हो तुम ! आज की सन्ध्या में ऋषभेश्वर तुम्हारे लावण्य की लौ का छोर देखना चाहते हैं !"

"तिलोत्तमा नीलांजना को देवेन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य है।"

o o o

अयोध्या की 'भुवनेश्वरी राज-सभा' में काल-बोध सम्भव नहीं। सो सन्ध्या ने छतों, खम्भों और गहरी यवनिकाओं में झलमलाते निसर्ग रत्न-दीपों में मुँह छिपा लिया है।

कर्मभूमि के आदि प्रजापति वृषभनाथ, अपने अकृत्रिम रत्न-सिंहासन पर सिंहमुद्रा में निश्चल आसीन हैं। उनके राजकुमारों, मन्त्रियों और पार्षदों की श्रेणियाँ भी निस्तब्ध हैं।

विराट् सभागार में एक अपूर्व नीरवता व्याप्त है। धूपायनों से अगुरुधूप की सुगन्धित धूम्र-लहरियाँ उठकर उस मौन को गहरा रही हैं। वृषभेश्वर को बोध हुआ कि कुछ अलौकिक घटित होने जा रहा है।...नहीं, वे नहीं जानना चाहते उसे, अपने अवधिज्ञान से, मनःपर्यय ज्ञान से। अपने सारे उपलब्ध ज्ञानों से परे, आज उन्हें प्रतीक्षा है, किसी और ही अनन्य बोध की। उनकी आँखों की अनुराग-मदिरा इस क्षण राग के छोर पर तरंगित

है। यह आकुलता अपूर्व है। यह मोहिनी यशस्वती और सुनन्दा के परे से चली आ रही है।...

...किन्हीं अदृश्य फूलों की विचित्र अननुभूत गन्ध में, चेतना मूर्च्छित हुई जा रही है, डूबी जा रही है। रत्न-दीपों का स्थिर-सा लगता आलोक चंचल हो उठा है। उसमें राशि-राशि इन्द्र-धनुषों की तरंगें उठ रही हैं।

...जाने किस अलक्ष्य में से, सहसा एक दूरान्तिक झंकार आती-सी सुनाई पड़ी। अवकाश में अति सूक्ष्म संगीत की बड़ी महीन, कोमल रागिनी उल्सित होने लगी। वृन्द-वाद्य की समवेत सुरावलियों में, असंख्य नक्षत्रों की नानारंगी किरणें, एक अलौकिक संगीत बनकर ध्वन्यायमान हो रही हैं। उत्तरोत्तर वातावरण प्रकाश, सौरभ, संगीत और झंकार के अविरल कम्पनों से व्याप्त होता जा रहा है। कोमलातिकोमल अदृश्य ज्वारों में सबकी चेतना अपने वश के बाहर डूबी जा रही है।

...संगीत की मूर्च्छा के छोर पर, क्षण-भर को द्रष्टा विलुप्त हो गया। उन्मनी तन्द्रा में अर्द्ध-निमीलित, ऋषभेश्वर की आँखों के समक्ष, ऊपर से एक झलमलाती नीली आभा आकृत होती चली आयी।...समय के भान से परे, जाने कब, एक अपूर्वलावण्या सुन्दरी, राज-सभा के बीचोबीच नृत्य करती दिखाई पड़ी। क्षीर-सागर के मन्थन से निकली वारुणी जैसे साकार हो गयी है। प्रतिक्षण नित-नूतन रूपों, भंगों और मुद्राओं में तरंगित है उसका सौन्दर्य। चाहे जब आपोआप सहसा निरावरण हो जाती है : कि अगले ही क्षण उसके लहँगे के गगन-गम्भीर घेरों में सारी राज-सभा सिमट आती है। उसकी कंचुकियों के कोशावरणों में सातों समुद्रों की गहराइयाँ उभर आती हैं। उनके अंचलों में आकाश के अनन्त पटल लहराते हैं। उसके अंग-भंगों में से क्षण-अनुक्षण नित-नये अलंकार प्रकट होते हैं, और विला जाते हैं।

...उसके कटाक्ष बेमालूम पानीले फलों की तरह, चेतना की गहराइयाँ तराशते चले जाते हैं। अपूर्व और अनन्त है उसका लास्य। उसकी नूपुर-झंकारों से पाँचों मेरु जैसे दोलायमान हैं। उसकी मींड़ और मरोड़ से हृदय में

बेशुमार ग्रन्थियाँ पड़ती चली जाती हैं।

...शाश्वत सूर्योदयी सिंहासन पर आसीन, परम भट्टारक ऋषभदेव की निश्चल सिंहमुद्रा सहसा बेचैन हो उठी। प्रश्न उठा मन में : यह कैसा आकस्मिक आविर्भाव है ! क्या यही वह प्रत्याशित है, कुछ विचित्र, जो घटित होनेवाला था ? क्या यही...यही वह सौन्दर्य है, जिसकी मुझे चिरकाल से तलाश है ? पल-पल नित-नवीन हो रही यह सुन्दरी कौन है ? लगता है समस्त लोक का सारभूत लावण्य-परिमल इस रूपसी में आकार ले उठा है। विचित्र है इसका स्पर्श-बोध ! रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि का शरीर यह नहीं लगता। जाने किस द्रव्य से यह निर्मित है ! अवकाश में अन्तरित जाने किस अज्ञात सौन्दर्य की लहरें, रह-रहकर इसमें नव-नूतन रूपों में आकृत हो रही हैं।...इतनी प्रत्यक्ष होकर भी यह छुवन की पकड़ से बाहर है। यह सौन्दर्य मूर्त होकर भी जैसे अमूर्त है : प्रत्यक्ष होकर भी मानो परोक्ष है : बाहर होकर भी जैसे भीतर है। सत्ता के किस अविज्ञात आयाम का यह अनावरण है ? पहुँच से बाहर होकर भी यह मेरे भीतर तक चला आता है। मेरी अथाह गहराइयों को बींधता-सा मेरे पार हुआ जाता है। इसकी चितवनें, भंगिमाएँ, अँगड़ाइयाँ तोड़ती-सी इसकी मोहक कोहनियाँ और बाहुएँ, कैसे चरम विरह की कचोट से मुझे व्याकुल किये दे रही हैं। रूप की इस नीली, तन्वंगी ज्वाला की विदग्धता में, जन्मान्तरों के सारे भोग-रमण मानो एकबारगी ही करवटें बदल रहे हैं...।

...बिना प्रकट में हिले-डुले भी, ऋषभनाथ की अदृश्य यौगिक बाँहें, अवकाश में दूर तक फैलती चली गयीं। ...विकल और अन्तहीन बाँहें...!

...और अकस्मात्, वह लास्यलीन सुन्दरी, पलक मारते में अन्तर्धान हो गयी।...संगीत, नृत्य-ताल, नूपुर-झंकार, वाद्य-ध्वनियाँ दूर-दूर जाती-सी, पारान्तर में विलीन हो गयीं।...

ऋषभ अपने ध्रुव पर स्थिर, स्तम्भित-से देखते रह गये। पृथ्वी और अन्तरिक्ष में दूर-दूर तक उसका कोई चिह्न शेष नहीं रह गया था।

राजसभा कौतूहल और आश्चर्य से कीलित हो रही। देखते-देखते जैसे दीप-निर्वाण हो गया। एक विद्युल्लता चित के आकाश में कौंधी, और विलुप्त हो गयी।

ऋषभेश्वर की दृष्टि, एकटक अपलक, अवकाश को बींध रही थी।...इन्द्र का इन्द्रजाल आगे बढ़ा।

...छूम्-अनन्-छूम्...फिर राजसभा के फर्श पर रूप की वह बिजली कौंध उठी। वही लावण्य, वही लास्य, वही संगीत की धारा, वही अंग-भंगों की विदग्ध तोड़ें और मरोड़ें : वही प्राणहारी झंकारें।

पार्षदों में फिर से प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी।...पर तीर्थंकर की अन्तर्दृष्टि में अन्तर साफ झलक आया।...नहीं, यह वही नहीं है : यह वही सौन्दर्य नहीं, वही लावण्य नहीं, वह वही [illegible] नहीं। यह वही भंगिमा नहीं, यह वही चितवन नहीं। वह सुन्दरी, वह रूपसी, सदा को विसर्जित हो गयी, अवसान पा गयी !...

...नहीं, ऐसा कोई सौन्दर्य यहाँ नहीं, जो चिरकाल अक्षुण्ण रहे, एकमेव हो, समरस हो, जिसकी कोई शाश्वत स्थिति हो, इयत्ता हो : जो नित्य अपने स्वरूप में ध्रुव रहकर, नित-नूतन होता रहे ; जिसमें निरन्तर नवनवीन लास हो, विलास हो, किन्तु ह्रास न हो, विनाश न हो !...

...ओह, तुम थीं नीलांजना ? लौकान्तिक स्वर्ग की अप्सरा ! आयु की एक तरंग से अधिक कुछ नहीं ? काल की एक हिलोर ! अस्ति नहीं, नास्ति।...कहाँ है वह सुन्दरी, जिसका विनाश नहीं ? जो मात्र काल की तरंग नहीं, जो काल से खेलती है, काल को जी चाहा रूप देती है, और फिर मिटा देती है। जो सदा थी, सदा है, सदा रहेगी। वह सुन्दरी किस देश में रहती है ? कहाँ है उसका अजेय वातायन, देश-काल के समुद्रों पर आरोहण करता-सा ?...

नीलांजना, तुम, जो ऐसा अथाह रिक्त दे गयी हो, तुम नास्ति कैसे हो सकती हो ?...तुम, जो अन्तिम वियोग का दंश दे गयी हो, उसका विनाश सम्भव नहीं। तुम उतनी ही नहीं थीं, जितनी दिखाई पड़ी थीं। तुम

मात्र वह एक शरीर ही नहीं थीं, जो लुप्त हो गया है। तुम और भी बहुत कुछ हो, और भी जाने कहाँ-कहाँ हो। तुमसे आगे एक और नीलांजना है : तुमसे परे एक और नीलांजना है।...एक और नीलांजना...एक और नीलांजना...एक और नीलांजना : एकमेव, अक्षय्य, अनन्त नीलांजना।... एक और यशस्वती, एक और सुनन्दा...एक और...एक और...एक और : नाम, रूप, देह से अतीत वह एकमेव सुन्दरी, वह एकमेव वल्लभा, मेरी नितान्त अपनी, जिसका वियोग नहीं।...जो मेरी अनन्या योगिनी है, नियोगिनी है। जो मेरी एक मात्र काम्या है।...

...उसी सुन्दरी की मुझे खोज है।...जाना होगा उसकी खोज में...वह जहाँ भी हो। निष्क्रान्त हो गयी है मेरी चेतना, जाने किन अगम्यों में...?

कब सान्ध्य-सभा विसर्जित हो गयी, ऋषभेश्वर को पता नहीं चला। कब वहाँ से उठकर, वे कहाँ चल पड़े, उन्हें नहीं मालूम।

० ० ०

यशस्वती, शय्या के पायँताने सौ-सौ कमलिनियों के पाँवड़े रचकर, उन्हीं में सिर ढाले, रात-भर अपलक आँसू सारती रही। सुनन्दा ने सेविकाओं और परिचारिकाओं को सो जाने का आदेश दे दिया। और फिर सारी रात, वैडूर्य मणि की लालटेन लेकर महलों और उद्यानों के कोने-कोने छानती फिरी। महारानी के पद-संचार से अयोध्या का राज-परिकर हिल उठा। राजराजेश्वर का पता लगाने के लिए, दिशा-दिशा में अश्वारोही दौड़ पड़े। ...सब निष्फल। पृथ्वी के एकमेव प्रजापति, आदि ब्रह्मा, अपनी ही रचना में से एकाएक जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये। ठीक उस नीलांजना ही की तरह ! यह कैसा इन्द्रजाल है !

...ब्राह्म मुहूर्त में अन्तःपुर के पिछले महाद्वार की अर्गला आपोआप ही टूट पड़ी। एक प्रचण्ड फौलादी झनझनाहट से जैसे भूगर्भ काँप उठा।

यशस्वती और सुनन्दा अपनी-अपनी अटारियों से उतरकर, भागती हुई नीचे आ पहुँचीं। सदा बन्द रहनेवाला अन्तःपुर का वह सिंहपौर आज अकस्मात् कैसे खुल पड़ा है...?

उत्तुंग मेरु-शिखर की तरह दण्डायमान, भगवान् वृषभनाथ, दायाँ पैर द्वार-देहरी पर धरे, और बायाँ पैर नीचे की सीढ़ी पर रखे निश्चल खड़े थे।

दोनों महारानियाँ आमने-सामने, विनत मुख, नमित नयन, स्तब्ध खड़ी रह गयीं। इस मूर्तिमान् पौरुष की ओर वे आँखें न उठा सकीं।

"महारानी यशस्वती, आज की भोर, उदय होते सूर्य के साथ महाराजकुमार भरत, अयोध्या के राज-सिंहासन पर आसीन होंगे।...और सुनन्दा, अजितवीर्य बाहुबली की माँ को, मंगल-मुहूर्त में यह रुदन शोभा नहीं देता।..."

बोल फूटा महारानी का :

"देवता, यह क्या सुन रही हूँ ?...एकाएक यह क्या ? समझ नहीं सकी ?"

"सच सुन रही हो, महारानी ! समझीं नहीं ? ऋषभेश्वर के अन्तःपुर की वज्र-अर्गलाएँ टूट पड़ी हैं, इस ब्राह्म-मुहूर्त में !"

"सो तो देख रही हूँ ! पर क्यों..."

"इसलिए की अवधि पूरी हो गयी। सीमाएँ टूट गयीं। ऋषभ निष्क्रान्त हो गया !"

"कहाँ जाने को यह महाप्रस्थान है ?"

"तुम्हारे पास आने को, सुनन्दा के पास आने को, सर्वचराचर के पास आने को !"

"पास ही तो हो। चाहो तो और भी पास आओ।...दूर जाने के लिए बहाना बनाना चाहो, तो बात दूसरी है। क्या पास आने के लिए, और भी दूर जाना जरूरी है ?"

"ठीक कह रही हो, यश ! पृथ्वी की उत्तुंगतम चूड़ा पर खड़े होकर ही तुम्हें समूची पहचान सकूँगा : निखिल के आर-पार देख सकूँगा। उसी

चूड़ा की खोज में जा रहा हूँ।''

''नीलांजना की खोज में ?''

''उससे ईर्ष्या न करो, यश, उसकी कृतज्ञ होओ। तुम्हारे भीतर आने का द्वार बन गयी है वह।''

''वह मायाविनी ?''

''हाँ, उस माया के अवगुण्ठन में अमोघ शक्ति है। वह अनिवार्य चुनौती है। उसका उत्तर मुझे देना होगा। उसी अवगुण्ठन को उलटने जा रहा हूँ, कि यशस्वती तुम्हारा, सुनन्दा तुम्हारा, एक और असली चेहरा देख सकूँ !''

''उसके लिए हमें छोड़कर कहीं जाना होगा ? किसी अन्यत्रता में ?''

''इस राजमहल में, हजारों बरस तुम्हारे साथ सुखोपभोग किया। पर वह परम सौन्दर्य न मिला, कि पूर्णकाम हो सकूँ, पूर्ण तृप्त हो सकूँ : तुम्हारा वह 'एकमेवाद्वितीयम्' लावण्य, न मिल सका, जो मेरा भी हो, तुम्हारा भी हो; अविभक्त रूप से। वह सौन्दर्य, जिसका ह्रास नहीं, विनाश नहीं।''

''उसके लिए मुझे त्याग जाना होगा, छोड़ जाना होगा ?''

''तुम्हें त्यागकर नहीं जा रहा, छोड़कर नहीं जा रहा। तुम्हें समग्र पा लेने को जा रहा हूँ, तुम्हारे अनन्त को भोगने के लिए जा रहा हूँ।...किन्तु सर्व को पाने के लिए, खण्ड को त्यागना होगा। नित्य भोग की उपलब्धि के लिए, अनित्य से निष्क्रान्त हो जाना पड़ेगा। अमृत में जीने के लिए, मर्त्य को अतिक्रान्त करना होगा।''

''उसके लिए, नीलांजना की खोज अनिवार्य है ?''

''क्यों नहीं ! जो लुप्त हो गयी है, मात्र वही नीलांजना नहीं है। वह और भी है...कहीं वह अशेष है। वहाँ, जहाँ तुम भी अशेष हो। नीलांजना तुमसे बाहर कहीं कोई नहीं।...वह मात्र माया थी : मात्र तुम्हरा अवगुण्ठन !''

''फिर वह कौन है, जिसकी खोज में मेरे देवता निष्क्रान्त हो चले हैं ?''

''एकमेव सुन्दरी, जिसका विनाश नहीं। जो पूर्ण कामिनी है, जो

अन्त-कामिनी है। वह तुम भी हो, सुनन्दा भी है, नीलांजना भी है। अलग-अलग नहीं। एकमेवाद्वितीयम्...अनन्य सुन्दरी, एकमेव प्रिया...जिसकी इयत्ता का नाश नहीं...जो अपने-आपमें ध्रुव होकर भी, अनन्त सौन्दर्य-लहरों में परिणमनशील है।..."

"मेरा जय-तिलक स्वीकारो, देवता !"

माँग के सिन्दूर में डुबोकर, यशस्वती ने काँपती उँगली उठायी। नमित माथ हो, आदि प्रजापति महाविष्णु ने तिलक स्वीकारा। सुनन्दा वल्लभ के चरणों में फूट पड़ी। अपने लिलार की केशरिया पत्रलेखा से उसने देवता के चरणों की अर्चना की। रुँधे कण्ठ से यशस्वती पूछे बिना न रह सकी :

"किस दिशा में प्रयाण करेंगे, हमें लिवा लाने को ?"

"कैलास की हिमानी चोटियाँ आदिनाथ को पुकार रही हैं, यशस्वती : हो सके तो, कभी मानसरोवर बन जाना, झुककर उसमें अपना चेहरा देख लूँगा। अपना एकमेव चेहरा : जो तुम्हारा भी होगा।"

...और दोनों महारानियों के कन्धों पर हाथ डालकर सम्राट् वृषभदेव महल में प्रवेश कर गये। सारे खण्डों की सीढ़ियाँ पार कीं। सारे शयन-कक्षों के पर्यंक पार किये।...चढ़े, उतरे, फिर चढ़े, फिर उतरे। महल के बाद महल पार करते चले गये। सम्यक् स्मित और पारदर्शी चितवन से अपार ऐश्वर्य को कृतार्थ करते चले गये। उद्यान के बाद उद्यान पार किये। आँगन के बाद आँगन पार किये।...

...छाया में ऊषा की मुसकान फूटी। सिंहतोरण पर महाप्रस्थान के अनहद शंखनाद गूँजने लगे। अयोध्या की राज-सभा के गोपुरम् में राज्याभिषेक की भेरियाँ और शहनाइयाँ बजने लगीं।

अन्तरिक्ष में से कल्प-कुसुमों की राशियाँ बरसाते हुए, लौकान्तिक देव, नाना संगीत-वाद्यों की ध्वनियों के साथ उतरते दिखाई पड़े। ब्रह्म स्वर्ग का अमित वैभव भगवान् वृषभदेव के चरणों की पूजा बन गया। सिंहद्वार के ठीक सम्मुख 'सुदर्शन' नामा पालकी प्रस्तुत थी। अनन्तों में उड्डीयमान हंस

जैसे एक नये ही सूर्य का भामण्डल अपने पंखों पर धारण किये उतर आया है।

दुन्दुभियों के वज्रघोष के साथ शंख और तुरहियों का नाद गहराता चला गया। दिव्य फूलों की राशियाँ बरसाते हुए हजारों देव-देवांगना जयजयकार कर उठे :

"राजयोगीश्वर भगवान् वृषभदेव जयवन्त हों !...धर्म-चक्रवर्ती ऋषभेश्वर जयवन्त हों !...सृष्टि के आदिनाथ जयवन्त हों ! कर्म-भूमि के आद्य तीर्थंकर जयवन्त हों।"

...और सहसा ही यशस्वती और सुनन्दा के कन्धों पर से हाथ खींचकर, सम्मुख दृष्टि, निश्चल पग, वृषभेश्वर सिंहद्वार को पार कर गये। ...छलाँग भरकर 'सुदर्शन' पालकी पर आरूढ़ हो गये। दृष्टि अगम्यों में उड्डीयमान थी।...उस परम पुरुष ने लौटकर नहीं देखा।

...देखते-देखते, सौ-सौ इन्द्रों के कन्धों पर झूलती पालकी, यशस्वती और सुनन्दा के आसुओं से ओझल हो गयी।

अन्तरिक्ष में जैसे कहीं ध्वनित था :

"एकमेवाद्वितीयम्...ओ मेरी एकमेव सुन्दरी, तुम कहाँ हो, ओ मेरी एकमेव प्रिया, तुम कहाँ हो...?"

(6 फरवरी, 1973)

लिंगातीत

आख्यान राजुल और नेमिनाथ का

रैवतक पर्वत के शिखरों पर आषाढ़ के पहले बादल घिर आये हैं। सारी वन-भूमि बादलों की छाया में स्तब्ध है। यह नीरवता अपूर्व है। देह धारण कर यह मुझे छुहला रही है। असह्य है यह शून्य का स्पर्श ! मेरे अणु-अणु को इसने जगा दिया है। कौन है यह शून्य-पुरुष ? अनिर्वार यह मेरी चेतना के अज्ञात स्तरों और आयामों को बींध रहा है, खोल रहा है। कितनी मार्मिक और बेधक है यह संचेतना !....

इतनी अकेली तो पहले कभी नहीं हुई। बादल गहराते जा रहे हैं। नीली छाया का यह लोक कितना अपार्थिव है ! इस घनीभूत एकान्त में, मैं अपने आपने-सामने हो गयी हूँ।...देख रही हूँ अपने को। किसी की साँवली नीलाभ कान्ति दिगन्तों तक व्याप गयी है। कोई आकृति नहीं, बस एक आभा का असीम विस्तार है : एक नीलम का विराट् दर्पण। इसके सम्मुख नितान्त अकेली खड़ी हूँ मैं। नाम, संज्ञा, कुल, देह से परे अ-कोई मैं। चारों ओर घिरी है, भयावनी रमणीय अरण्यानी। इसके पल्लव-परिच्छद में जाने कैसी लयें उभर रही हैं। कण-कण अनबरसे जल से आर्द्र हो आया है। भीतर-ही-भीतर भींज उठी माटी की यह सौंधी सुगन्ध मेरा नाम पूछ रही है।...याद दिला रही है मुझे अपने होने की, और जाने किसकी ? ...उसकी, जिसे अपने से बाहर सोचना मैं जाने कब से बन्द कर चुकी हूँ।

...राजुल !...किसने, किसे पुकारा इस नीरव की अचिन्ही व्याकुलता

में। हाँ, याद आया, मैं ही तो राजुल हूँ। पर मैं तो न जाने कब से राजुल नहीं रह गयी हूँ। कोई नहीं रही : बस, अ-कोई हो रही हूँ। अपने ही से अनजान मात्र एक गति, एक परिणमन। पर इन घिरते बादलों की नीलाभा मुझे सहसा ही आज फिर अपने में लौटा लायी है।...हरिवंशियों की इस नीली मोहिनी का अन्त नहीं।

...छोड़कर चले गये हो, शून्य का भेदन करने। फिर क्या सूझा है, कि इस अनन्त काल की विरहिणी के एकान्त में अजीब जामुनी उत्तरीय ओढ़कर मण्डला रहे हो। जब अपनाकर भी छोड़ गये, तो क्यों मुझे अपने होने की याद दिलाने आये हो ? ऐसा प्राणहारी और निष्ठुर खेल खेलने में तुम्हें क्या मिलता है, यदुवंशी ! अपनी खोज में गये हो, तो अपने में ही रहो न ?...मेरे तुम होते ही कौन हो ?

माटी की इस भीनी मर्म-गन्ध ने, मेरे रूप को आज फिर से सौ गुना मेरे सामने उजागर कर दिया है। ये लहरों-सी बाँहें, ये सपनीली आँखें, पीले मकरन्द से भरे पुण्डरीक-सा यह चेहरा।...नहीं, यह मेरा नहीं रहा। जिसे अर्पित कर चुकी, वह ले या न ले, मुझसे क्या मतलब ? तत्त्वों में यह रहे, या विसर्जित हो जाए, मुझे क्या अन्तर पड़ता है ? मैं तो अपनी ही नहीं रही।...

इस एकान्त की बादली नीरवता में, अपने सौन्दर्य को सहसा ही यों सामने पाकर आत्म-विमोहित हो गयी हूँ। मेरी चेतना की परत-परत जाने कितनी विदग्ध यादों और संवेदनों से विगलित हो आयी है।

...अपने महल के सबसे ऊँचे गवाक्ष पर चढ़ी थी मैं, उस दिन तुम्हें देखने। तब पृथ्वी का कोई सिंगार तुम्हें मोहने लायक नहीं लगा था। केवल तुम्हारी ही देहाभा के रंग का हलका नीला उत्तरीय-भर स्वीकारा था। सुहाग की गुलाबी कंचुकी भी रुचिकर नहीं लगी थी। धारण किये थे केवल तुम्हारे भेजे मणि-वलय, और तुम्हारी भेजी कमल-केसर का तिलक।...यादवों का देवोपम वैभव और परिकर लेकर तुम्हारी बारात मथुरा के राजपथ पर चढ़ी थी। वासुदेव कृष्ण की चूड़ा-मणियों से सारी मथुरा झलमला उठी थी।

सौ-सौ हरिवंशियों का एकत्रित तेज देखकर, मेरी छाती गर्व से फूल उठी थी।...और अपने गन्धमादन हाथी की अम्मारी में, लोकशीर्ष पर उन्नीत सूर्य के समान तुम उद्भासित थे : तीर्थंकर अरिष्टनेमि ! सहा नहीं गया था तुम्हारा तेज। तुम्हारे रत्नों के छत्र में मुँह छिपा लेना चाहा था। तुम पर ढलते चँवरों में विदेहिनी हवा की तरंग-भर होकर रह गयी थी। तीर्थंकर की प्राण-वल्लभा होने का गौरव, जगत् के सारे मानों की सीमा तोड़ गया था।...

अपने को रखना असह्य हो गया था उस क्षण। अपनी उपलब्धि में खोती ही चली गयी। आपे में रहकर उस सुख को भोगना और उस पर विश्वास करना सम्भव नहीं हो पा रहा था...एक अबूझ और निगूढ़ विषाद ने एकाएक मुझे छा लिया। अलक्ष्य में से एक शंका का तीर मेरे मर्म में बिंध गया। ...क्या पृथ्वी पर ऐसे स्वप्न की सिद्धि सम्भव है ? नहीं मालूम, जाने कब, कैसे, मैं भीतर अपने हीरक पर्यंक पर आकर ढलक पड़ी थी।...

पता नहीं कब, अचानक मेरी अभिन्न बान्धवी शैला ने आकर मेरा शीतोपचार किया, और मुझे जगाया। स्वप्नाविष्ट-सी मैं उठ बैठी और उसे देखती ही गयी। पार्थिव में लौटना बहुत पीड़क लगा। शैला मूर्तिवत् सामने बैठी थी। मैं कुछ पूछ न सकी : वह भी कुछ कह न सकी।...

...आखिर जो जाना, वह यही था, कि सचमुच पृथ्वी पर मेरा सपना साकार न हो सका। नगर का चौक पार करने के बाद तुम हाथी से उतरकर अपने 'भुवन-तिलक' नामा रथ पर आरूढ़ हो गये थे। बारात की राह में अचानक ही, राजमार्ग के किनारे, एक बाड़े में घिरे हरिणों पर तुम्हारी दृष्टि पड़ गयी। तुमने अपने सारथी से उनके बारे में जिज्ञासा की : "सुख के अभिलाषी ये निर्दोष प्राणी यहाँ क्यों कर बन्दी हैं ?" सारथी ने बताया : "बारात में आये अतिथियों का भोजन बनने के लिए, स्वामिन् !"...उन मृगों की आँखों में तुमने अपने को देखा : तुम्हारे प्राण उनके प्राणों के साथ तदाकार हो गये। तत्काल तुमने अपने कुण्डल-मुकुट उतारकर सारथी को

अर्पित कर दिये। तुम रथ से उतरकर, पलक मारते में, एक विद्युत् तीर के वेग से मथुरा के नगर-तोरण के पार हो गये। उलटे पैरों लौटती बारात के अश्वों, हाथियों, रथों, योद्धाओं और राज-पुरुषों की पद-धूलि, तथा यादवों के पराजित ऐश्वर्य की चीत्कार में मथुरा डूब गयी। त्रिखण्ड पृथ्वी के अधीश्वर, सुदर्शन-चक्रधारी, शार्ङ्गपाणि वासुदेव कृष्ण भी, तुम्हारे पीछे भागकर तुम्हारा पता न पा सके : तुम्हें लौटाकर न ला सके।...

...मेरी आँखों के सामने पड़ी थी मेरी जमकर वज्र हो गयी छाती। छिन्न-भिन्न, लहूलुहान पड़े एक कुमारी के हृदय पर मुझे कुछ करुणा-सी हो आयी। मैं राजुल नहीं रह गयी थी : कोषावरण से बाहर खड़ी होकर मैंने राजुल को देखा। नीले अंशुक में न समाती-सी वह नील-लोहित-सी एक ज्वाला : निश्चल, पर लोक के तमाम कम्पनों और अनुकम्पनों को अपने में समाये हुए।...फिर भी मुझे उस पर दया आ गयी, किन्तु अगले ही क्षण मैं निर्दय हो गयी : भाव-संवेदन से ऊपर उठकर मैंने अपने पार देखा।...

मैं मथुरा की अनन्य सुन्दरी राजकन्या नहीं रह गयी थी। मैं किसी भूमि, किसी वंश, किसी मर्यादा, किसी मानुष भाव में न ठहर सकी। मुझे पीछे लौटकर देखने का, सोचने का भान नहीं रह गया था।...इतना-भर याद है कि अपने रथ का आप ही सारथ्य करती हुई, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपनी छाती की बिजलियों से रौंदती हुई, मैं द्वारिका के समुद्र-तोरण पर जा खड़ी हुई थी। मेरी पृच्छा पर द्वारपाल ने सिर लटका दिया था। इतना ही बोला वह : "...महाराजकुमार अरिष्टनेमि आज ही ब्राह्म-मुहूर्त में महाभिनिष्क्रमण कर गये। वे इस समय गिरनार पर आरोहण कर गये होंगे। उस महाकान्तार में उनका पता पाना सम्भव नहीं।"

...आकाश के पटलों को कँपाता मेरा रथ, गिरनार के एक गुप्त पार्वत्य-तोरण पर जाकर, आपोआप ही, अचानक स्तम्भित हो गया।

फूटती द्वाभा में, महापर्वतारण्य के निसर्ग चट्टानी तोरण के बीचोबीच तुम निश्चल पीठ दिये, दिगम्बर खड़े थे। एक हाथ में था कमण्डलु और

दूसरे में थी मयूर-पिच्छिका। पिछला पैरा तुम्हारा उपत्यका के आँचल में था और अगला पैर गिरनार की निरालम्ब खड़ी चट्टान पर।

''नाथ...!''

...समूचा पर्वत पसीज उठा उस सम्बोधन से। पर तुम अवाक्, अकम्पायमान मानुषोत्तर पर्वत थे।

''स्वामी, राजुल के लिए इस पृथ्वी पर अब स्थान नहीं।...''

उत्तर में केवल अरण्यानी हहरा उठी।

''एक बार मेरी ओर देखो...!''

''नेमिनाथ से मिलन अब गिरनार के शिखर पर ही हो सकता है, राजुल !''

लौटकर तुमने नहीं देखा। और निमिष मात्र में तुम उस खड़े दुर्गम पर्वत पर छलाँगें मारते दिखाई पड़े।...अचानक भयानक सिंह-गर्जना से तलहटियाँ थर्रा उठीं। और तुम आकाशवाहिनी चोटियों के नील शून्य में जाने कहाँ ओझल हो गये।

...तुम्हारे आदेश के सिवाय, मेरा अस्तित्व ही क्या था ! तुम्हारे ही लिए राजुल जनमी थी। सो अनुगामिनी हो गयी।...

तब से सारे भावों और संवेदनों से परे, बस, तुम्हारे चरणों की अलक्ष्य गति होकर चली चल रही हूँ। काल के बीतते बरसों में नहीं जी पा रही हूँ, सो याद नहीं कितने बरस बीत गये। केवल तुम्हारी महेच्छा को समर्पित, चुपचाप चली चल रही हूँ। कहाँ जाना है, क्या पाना है, यह भी कभी नहीं सोचा।

...आज इस अटवी में अकेली भटक गयी। सहचरी आर्यिकाएँ जाने कहाँ छूट गयीं। एकाएक इस अँधियारी बादल-बेला में घिर गयी। हवा में छायी जलिमा से मेरी देह की पृथ्वी जाने कैसी पारगामी संवेदनाओं से भींज उठी है। अपना नाम, नगर, कुल, कौमार्य, कुँवारी साध, अपना रूप-लावण्य, सभी कुछ याद हो आया है। और भीतर जन्मान्तरों की जाने कितनी ही यवनिकाएँ उठती चली जा रही हैं।

...बहुत व्याकुल हो उठी हूँ। अपने विस्मृत आपे में लौट आयी हूँ। क्यों हुई मैं महाप्रतापी उग्रसेन की अनन्य रूपसी राजपुत्री ? क्यों आये यादवकुल-सूर्य अरिष्टनेमि राजुल को ब्याहने ? क्यों हुई मैं उनकी वाग्दत्ता ?...फिर अनायास, उनकी अपरिणीता, परित्यक्ता ? हरिवंश की वरिता होकर भी, अवरिता राजवधू।...केवल द्वारिका के समुद्र-तोरण से द्वारपाल द्वारा लौटा दी जाने के लिए ? तुम्हारा श्रीमुख देखने तक के अयोग्य ? केवल तुम्हारी निर्मम पीठ की उपेक्षा झेलने के लिए ही जनमी हूँ मैं ?...क्या इस सारे निष्ठुर खेल का कोई प्रयोजन नहीं ?...समझती हूँ तुम्हारे इंगित को। फिर भी आज वह समझने से मेरा हृदय मुकर गया है!

...काश उन बाड़े में घिरे हरिणों के बीच, मैं भी एक हरिणी होती! तुम्हें पशुओं पर दया आ गयी, उनके प्राणों की पुकार से तुम पसीज उठे। पर एक मानवी नारी का मूक आक्रन्दन तुम्हारी सर्वचराचर-वल्लभ आत्मा को स्पर्श न कर सका ? उसका सर्वस्व-समर्पण तुम्हारे सर्व-शरण चरणों तक न पहुँच सका ? वह आप नहीं रह सकी, केवल तुम्हारी हर इच्छा की एक तरंग हो रही। किन्तु तुमने लौटकर एक बार उसकी ओर देखना तक उचित नहीं समझा। तुम कितने प्यार से खड़े पर्वत की अगम्य चट्टानों को आलिंगित करते चले गये। निर्जीव पाषाण तक तुम्हारे स्पर्श के अधिकारी हो सके! किन्तु राजुल की छाती को एक बार अपने श्रीचरणों से रौंद जाने लायक भी तुमने नहीं समझा...? क्यों हुई मैं मानुषी, क्यों न हुई गिरनार की धूलि, उसकी कोई चूड़ान्त शिला, जिससे तुम्हारा अंग-अंग आश्लेषित हुआ होगा। तुम्हारे पैरों के पास की वह हरियाली, वह जलधारा, जिसके निरीह एकेन्द्रिय प्राणों तक के प्रति तुम्हारा हृदय करुणा और आत्मभाव से भर उठा होगा। काश, ऐसा एक धूलिकण, एक तृण, एक वन्य फूल, एक पतिंगा, एक आकाश-खण्ड, एक शिला-खण्ड मैं हो सकती, जिसे तुम अकारण ही कभी मृदु भाव से देख उठते होगे। ...कोई वन्य प्राणी, जो तुम्हारी सर्वाश्लेषिनी प्रीति से विभोर होकर, तुम्हारे

पद-नख पर सिर ढाल देता होगा। कोई विषधर भुजंगम, जो मन्त्र-मोहित-सा होकर तुम्हारी नग्न जाँघों और बाहुओं के सौन्दर्य से लिपट जाता होगा। ..काश, इनमें से कोई हो सकती राजुल...!

...कायोत्सर्ग ? हर दिन वह करने की चेष्टा करती हूँ। पर मैं तो एकदम ही खाली हूँ। क्या उत्सर्ग करूँ ? यह काया तुम्हारे लिए ही जनमी थी, और तुम्हारे प्रति समूची उत्सर्ग हो गयी उस दिन, उसी क्षण, जब गन्धमादन हस्ती पर आरूढ़ तुम्हारे अनन्त कोटि सूर्यजयी श्रीमुख को पहली बार अपने गवाक्ष पर से देखा था। आपा असह्य हो गया था उस निमिष में। अपने कौमार्य के हीरक पर्यंक पर नितान्त रिक्त, निष्प्राण होकर जा पड़ी थी। एक ही चितवन से तुमने मेरा समस्त प्राण खींच लिया था : मेरी बहत्तर हजार नाड़ियाँ तुम्हारे भीतर कीलित हो गयी थीं।

अब किसके प्रति, क्या उत्सर्ग करूँ ! मेरी जीवित काया तो तुम्हारे चरणों की धूलि हो गयी। अब कायोत्सर्ग का यह निर्जीव अभिनय कब तक करती चली जाऊँ ? अपनी उत्सर्गित काया से भिन्न, कोई आत्मा हूँ या नहीं, मैं नहीं जानती। तुमसे भिन्न कोई आत्मा हूँ, यह सोच पाना मेरे लिए सम्भव नहीं।...

...घटाटोप घिरे आ रहे इन बादलों में, गिरनार की तमाम शिखर-मालाएँ डूब गयी हैं। जाने किस अगम्य के अज्ञात कूट पर तुम समाधिस्थ होगे इस क्षण ? जाने किसकी खोज में...? इस असीम विराट् प्रकृति के प्रति आँखें मूँदकर, तुम अपने भीतर क्या पाना चाहते हो ? ओ परम पुरुष, पूछती हूँ, यह प्रकृति, यह लोक, जिसमें राजुल भी है, यदि तुम्हारे लिए सर्वथा त्याज्य है, उपेक्षणीय है, तो इसके होने का क्या प्रयोजन है ? ...इस अथाह धुन्ध में खोयी एक अनाथिनी बालिका तुम्हें पुकार रही है, पूछ रही है ! उत्तर दोगे...?

सुनती हूँ लोक के शीर्ष पर कोई अर्द्धचन्द्राकार सिद्ध-शिला है। तुम प्रकृति के सारे बन्धनों से मुक्त होकर, निर्वाण पाकर, उस सिद्ध-भूमि पर आसीन हुआ चाहते हो। तुम शुद्ध ज्ञान-स्वरूप, आप्तकाम हो जाना चाहते

हो। पर क्या होगा तुम्हारे उस अनन्त ज्ञान का, क्या प्रयोजन है उसका, यदि यह लोक उनका ज्ञेय न हो, विषय न हो, निष्काम ही सही—पर भोग्य न हो ? क्या सार्थकता है तुम्हारे उस ज्ञाता की, ज्ञान की, यदि तुम्हारे जानने और भोगने को यह त्रिलोक और त्रिकाल न हो ?...यदि तुम्हारे जानने को राजुल न हो...? सुनो, अपने को जानकर भी मुझे न जानोगे, तो तुम्हारा जानना अधूरा ही रह जाएगा : सार्थक नहीं होगा। तुम कृतकाम न हो सकोगे।...

...ओ मेरे परम पुरुष, मुझे जानो, मुझे लो, मैं तुम्हारी परम वल्लभा प्रकृति हूँ। जानो, मैं ही तुम्हारी मुमुक्षा हूँ, मैं ही तुम्हारी अभीप्सा हूँ। मेरे न आने तक तुम अटके रहे। मेरे आते ही गगनोद्यत हुए। अपने पिछले पैर को मेरी छाती पर धरकर ही तुमने गिरनार पर अगला चरण भरा था।...मैं ही हूँ तुम्हारे ज्ञान की कसौटी, तुम्हारी सिद्धि का प्रभाव। तुम्हारी मुक्ति का द्वार। मुझे जाने बिना पाये, पाये बिना, भेदे बिना, तुम पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकते, पूर्ण पुरुष नहीं हो सकते।

o o o

...एकाएक घनघोर बादल गरजने लगे। पृथ्वी और अन्तरिक्ष को विदीर्ण करती हुई प्रत्यंचाकार बिजलियाँ कड़कने लगीं। दिगन्तों से उठती हुई प्रचण्ड आँधियों और वृष्टि-धाराओं में अविचल गिरनार चलायमान होने लगा। और एक अति कोमल महीन कण्ठ की पुकार उसमें अन्तहीन होती चली गयी।...

"मेरे नाथ...मेरे पुरुष...तुम कहाँ हो !"

...थोड़ी देर में तूफान किसी कदर शान्त हो चला। वृष्टि-धाराओं का वेग कुछ कम हुआ। राजुल ने चारों ओर निहारा। पीछे मुड़कर देखा। एक गुफा दिखाई पड़ी। उसके अँधियारे द्वार में अमोघ आवाहन था।...भीगे तन-वसन से लथपथ, वह गुफा में प्रवेश कर गयी। वह ऐसा निर्बाध और

निर्जन एकान्त था, कि वहाँ अपने सिवा, किसी अन्य के होने की कोई कल्पना ही राजुल के मन में न आ सकी।...सो अपने भीगे हुए अखण्ड एकमात्र वस्त्र को उतारकर, निचोड़कर, राजुल ने उसे एक ओर फैला दिया। अपने को निरावरण पाकर, वह अनजाने ही रोमांचित हो आयी।...

अचानक वज्र-कौंध करती हुई फिर बिजली कड़की, और वह गुफा के अन्धकार को भेद गयी। उसके उजाले में राजुल ने देखा : गुफा के शेषान्त में, एक शिला पर, कोई अतिशय सुन्दर, दिगम्बर कुमार-योगी पल्यंकासन से आसीन हैं। राजुल की तहें काँप उठीं। उसके तन-मन के सारे कोशावरण झनझना उठे।...रह-रहकर बिजली कौंध उठ रही है। किंचित् दूर पड़े वसन को उठाने की सुधबुध भी उसे नहीं रही। जहाँ वह खड़ी थी, वहीं अपने गुह्यांगों को गोपित कर वह धप् से मर्कटासन में बैठ गयी।

...फिर बहुत प्रचण्ड वेग से आँधियाँ टूट पड़ीं। धारासार झड़ियाँ बरसने लगीं। एक पर एक टूटती बिजलियों के मण्डलों में धरती और आकाश चक्कर खाने लगे। राजुल ने अपनी छाती में दुबके मस्तक पर साक्षात् प्रलयंकर को जैसे ताण्डव नृत्य करते देखा। साहस बटोरकर वह बोली :

"आर्य, बालिका को क्षमा करें। उसका त्राण करें !..."

"तथास्तु, सुन्दरी !...मुझसे लज्जा कैसी ? मैं ही तो हूँ...तुम्हारे लावण्य का चिर प्रार्थी। अरिष्टनेमि का अनुज, महाराज समुद्रविजय का कनिष्ठ आत्मज...मैं रथनेमि...!

"तुम्हारे सौन्दर्य की सुगन्ध और आभा की लहरों से सारे आर्यावर्त का आकाश आविल था। चिर दिन से तुम मेरा स्वप्न होकर रहीं।

"अचानक सुना, मेरी भाभी होकर आ रही हो, द्वारिका के राजमहलों में।...मन मारकर रह गया। सोचा, आँखों की राह ही तुम्हें अपने अन्तर के अन्तःपुर में बसा लूँगा।...किन्तु वह सपना भी टूट गया। तब लोकालय

नहीं भाया। वहाँ देखने को, जीने को, भोगने को रह ही क्या गया था...?

''सो अभिनिष्क्रमण कर आया। रैवतक पर्वत के उभार भी तुम्हारी याद से पीड़ित कर देते थे। निदान, इस गुफा में अपने को बन्द कर लिया। ...विश्वास था, एक दिन मेरी पुकार पर तुम्हें आना होगा।...

''तुम आ गयीं, कड़कती बिजलियों के रथ पर चढ़कर !...एक पल भी असह्य है अब तुम्हारा विरह, राजुल ! मेरी कामना के अकुण्ठित फलों पर तुम निर्बाध, निरावरण उतर आयीं। मेरी तपस्या सार्थक हो गयी। मेरा दिगम्बरत्व कृतार्थ हो गया।...

"आओ, मेरी दिगम्बरी, तुम्हारा दिगम्बर पुरुष, इन नग्न बिजलियों की शय्या पर तुम्हें बुला रहा है..."

डूबती चेतना के छोर पर राजुल ने महसूस किया : जैसे एक विकराल व्याघ्र, लपलपाती जिह्वा से उस पर टूट पड़ने को उद्यत है। भय, लज्जा, घृणा, ग्लानि, क्रोध और वेदना की पराकाष्ठा पर पहुँचकर, वह भीतर ही भीतर कुंचित, ग्रन्थित होती चली गयी। वह अपने ही भीतर धँसी जा रही थी, गाँठ होकर अपने ही में निःशेष लीन हुई जा रही थी : वह धरती में समा जाना चाहती थी। पर न आकाश फटा, न धरती फटी। एक अभेद्य वज्र की शूली पर वह अरक्षित, अकेली बिंधी जा रही थी।

प्रार्थना से व्याकुल होकर उसने अन्तर्मन में पुकारा : "मेरे एकमेव नाथ, मेरे नेमिनाथ, तीन लोक और तीन काल के चक्रनेमि, ध्रुव पुरुष ! इस चिर अनाथिनी का त्राण करो ! इसे सनाथ करो : तुम्हीं नहीं, तो कौन इसे सनाथ करेगा !...मेरे प्रभु, मेरे एकमात्र निजत्व, मेरी सत्ता के सत्त्व, मेरे सत् के सतीत्व, मेरे सर्वस्व, कहाँ हो तुम, कहाँ तो तुम मेरी इस दुर्वेला में ?...सकल चराचर के एकमेव वल्लभ, तीर्थंकर, भगवान् नेमिनाथ, तुम इतने कठोर, इतने निर्मम कैसे हो सकते हो ?...इस संकट की घड़ी में भी तुमने मुझे असहाय छोड़ दिया...?"

...और उसकी बाह्य चेतना जाती रही। अन्तश्चेतना गहराती चली

गयी। नरक के बाद नरक छिन्न-भिन्न होती चली गयी। उसके मूलाधार में एक मर्मवेधी वज्राघात-सा हुआ। उसे बोध हुआ : उसके अन्तर्तम के अथाह में से गिरनार का एक शृंग उठा चला आ रहा है। भयावह और सर्वस्वहारी है उसकी वेधकता, उसकी उत्तुंगता, उसकी उत्तानता। और उसके भीतर जैसे गूँजा :

"कोई किसी का नाथ नहीं : तुम स्वयं अपनी नाथ हो। तुम स्वयं ही अपनी संरक्षिका हो, परित्राता हो, सर्वशक्तिमान् ! अपने को पहचानो राजुल...!"

"मैं...मैं कौन हूँ...मैं कौन हूँ ?...जिसे मैं गोपन कर रही हूँ, बचा रही हूँ, क्या वही मैं हूँ ? क्या मैं योनि मात्र हूँ, क्या मैं उरोज मात्र हूँ ? क्या मैं काया मात्र हूँ ? यह काया, जिस पर मेरा वश नहीं, जिसकी रक्षा मैं नहीं कर सकती, जो इस क्षण स्वयं अपनी भक्षक हो उठी है ? मेरा यह सौन्दर्य, मेरा यह नारीत्व, जो स्वयं इस क्षण मेरा शत्रु हो उठा है, अपना ही शत्रु हो उठा है ? जो अपनी स्वाधीन इच्छा तक का नहीं है, जो इच्छा, मेरी अपनी नहीं : हर पल जो मुझे छलती है ? तो फिर मैं कौन हूँ, क्या है मेरा निजत्व, निज धन, मेरा स्वायत्त सर्वस्व ? योनि मात्र ? जिसे मैं जितना ही अधिक छुपा रही हूँ, बचा रही हूँ, संरक्षित कर रही हूँ, उतनी ही अधिक प्रबल और अदम्य अस्त्र बन रही है वह, मेरे विरुद्ध, मेरे बलात्कारी के हाथों में। स्पष्ट प्रतीति हो रही है, कि गोपन है इसी से आवरण है, आवरण है इसी से आकर्षण है, आकर्षण है तो स्खलन है ही। जितना ही अधिक गोपन कर रही हूँ, उतना ही दुर्निवार आकर्षण अपने चहुँ ओर जगा रही हूँ, उतनी ही अधिक स्वयं भी स्खलित हो रही हूँ, आत्म-च्युत हो रही हूँ।...

"तब कौन हूँ मैं, इससे परे, क्या हूँ ? इस सबके बाद जो बच गयी हूँ, संज्ञाहीन, परिभाषातीत, वचनातीत...वही मैं हूँ। अखण्ड, एक, अक्षुण्ण, अच्युत। ओ...मैं, जान गयी, पा गयी, पा गयी अपने को।...अरे नहीं हूँ मैं योनि, नहीं हूँ मैं लिंग, नहीं हूँ मैं काया। मैं स्त्री नहीं, मैं पुरुष नहीं।

...मैं पुरुष भी हूँ, मैं स्त्री भी हूँ। मैं किसी की नहीं, अपनी ही हूँ।...आ गये मेरे नाथ, मेरे एक मात्र अपने, मेरे आप, मेरे अभिन्न, मेरी अन्तःशय्या के रमण, आत्मन्, आ गये तुम...?"

भय, लज्जा, गोपन, ग्लानि, परिताप, मर्यादा की सारी ग्रन्थियाँ अनायास ही यों उन्मोचित हो चलीं, जैसे पर्वत-शिखर में से एकाएक झरना फूट पड़ा हो।

...उद्भिन्न, दुर्दाम, उन्मुक्त, देह के भी आवरण से परे दिगम्बर, वह चिदम्बरा, निर्ग्रन्थ उठ खड़ी हुई : एक दुर्जेय सर्वजयी ताण्डव लास्य की मुद्रा में। वह्निमान् महाचण्डिका : चिर नग्ना महाकाली। दुर्जेय कुमारिका : शाश्वती बाला : सर्वरूपातीता : त्रिभुवन-सुन्दरी। योनि और लिंग उसकी उल्लम्ब नर्तित बाहुओं पर मात्र लीला-सर्प बनकर खेल रहे थे।...

उस प्रलयंकरी, शंकरी को साक्षात् सम्मुख पाकर, रथनेमि एक महाभय से चीत्कार उठे। अगले ही क्षण, वे अपनी मौत आप ही मर गये।...अपने भीतर उन्होंने अपना शव देखा। और उस शव की छाती पर एक पैर धरकर, एक पैर अधर में उठाये, यह कौन दिगम्बरी अनन्त लास्य में लीन है !

...और उन्होंने अपने शव के भीतर से जागकर उठते अपने शिव को देखा। उनके अंक में उनके साथ ही अवतरित हुई थी, उनकी शिवानी। उनकी अपनी ही आत्मजात अंगना। निराकुल,-वीतराग, निष्काम, निरीह, वे सहज ही उसमें रमणलीन थे, और अपने-आपको देख रहे थे।...

"...माँ...माँ...माँ !" पुकारते हुए रथनेमि जाने किसके चरणों में लोट गये।

पर गुफा में उनके अपने अतिरिक्त, और कोई नहीं रह गया था।

(1 मार्च, 1973)

वासुदेव कृष्ण का पत्र : तीर्थंकर नेमिनाथ के नाम

प्रिय नेमी,

तुम्हें अलग से याद करने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं। निरन्तर तुम्हारे साथ, क्षण-क्षण के साथ, योग-मिलन में रहना ही मेरा स्वभाव है। लेकिन लीला-पुरुष हूँ न, सो देश-काल में भी मनमाना खेलता रहता हूँ। मानुषोत्तर हूँ अपनी स्थिति में, पर अपनी गति-विधि में, मानुष भाव से भी उन्मुक्त विचरता रहता हूँ। स्थिति और गति-परिणति, दोनों ही का संयुक्त रूप हूँ मैं। कहा न, कि लीलाधर्मी हूँ। और इसी लीलाभाव में, आज तुम्हारी याद बहुत आ रही है। कारण-अकारण, तुम्हारे साथ जिये अतीत को फिर से जी जाने की इच्छा हो आयी है। जान पड़ता है, तीर्थंकर महावीर की इच्छा है, कि उनके जन्मोत्सव के मुहूर्त में, तुम्हारे-अपने संयुक्त जीवन की मर्म-कथा जगत् को फिर से सुनाऊँ।

अन्तर्तम संवेदन के इस क्षण में, 'प्रिय नेमी' सम्बोधन हो स्वाभाविक रूप से मेरे मन में फूट रहा है। तुम मेरे अनुज थे, सो मनुज-सुलभ दुलार से ही तुम्हें पुकारना आज अच्छा लग रहा है। प्रभु, भगवान्, या तीर्थंकर के मौलिक सत्ता-स्तर पर तो हम दोनों ही एक-दूसरे को प्रतिक्षण 'परस्परदेवो भव' की स्थिति में ही अनुभव करते हैं। पर इस क्षण मेरा 'मूड' एकदम वैयक्तिक है : और तब स्वभावतः तुम्हें 'प्रिय नेमी' ही कहने को जी चाहता है। तुम तो जानते हो, मैं ठहरा लीला-पुरुष, एक साथ वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के स्तरों पर जीता और खेलता हूँ।

तुम्हारे अनुयायियों के पापों का प्रक्षालन करने के लिए, मैं तत्काल नरक की 'वालुका-प्रभा' नामक तीसरी पृथ्वी में हूँ, और तुम सिद्धालय में विराजमान हो। सो यह पत्र सारे लोकाकाश में गुजरकर ही, तुम तक पहुँच सकेगा। खानगी होते हुए भी, खानगी यह रह नहीं पाएगा। तुम्हारे और मेरे अनुयायी खामखाह इसे पढ़ ही लेंगे। और स्थिति में तुम्हारे अनुयायियों को, मेरा तुम्हें 'प्रिय नेमी' सम्बोधन किसी कदर अखरेगा भी। कहेंगे कि नरक भोग रहा है, फिर भी उद्दण्डता गयी नहीं। तीर्थंकर नेमिनाथ को, साक्षात् सिद्ध परमेष्ठी को 'प्रिय नेमी' कहने से बाज नहीं आता। पर इन एकान्तवादी हठधर्मियों को कैसे समझाऊँ कि तुम मेरे त्रैलोक्येश्वर भगवान् नेमिनाथ, और प्रिय सखा नेमी एक साथ हो। और सारे ही सम्बन्धों और सम्बोधनों को एक साथ जी-चाहा जीने और खेलने की जीवनमुक्त दशा ही, मेरी एक मात्र आत्मस्थिति है। वही मेरी मूलगत अन्तश्चेतना है।

जैनाचार्य पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' नामक अपने ग्रन्थ में, एक बहुत सुन्दर बात कही है। वे कहते हैं कि, तीर्थंकर के केवलज्ञान में जो झलकता है, उसका असंख्यवाँ भाग ही, उनकी दिव्य-ध्वनि में मुखरित होता है। और उनकी मुखर दिव्य-ध्वनि का असंख्यवाँ भाग ही उनके गणधर ग्रहण कर पाते हैं। और उस ग्रहण का भी असंख्यवाँ भाग ही, गणधरों के प्रवचन में प्रकट होता है। और उस प्रवचन का भी असंख्यवाँ भाग उनके शिष्य सुन-समझ पाते हैं। और उन शिष्यों द्वारा पाये गये प्रतिबोध का भी असंख्यवाँ भाग शास्त्रों में लिपिबद्ध होता है। और इस शास्त्रीय वाङ्मय की क्रमशः विलुप्ति और फिर प्रज्ञप्ति में, केवली के कथन का कितना सत्यांश बच पाता है, सो तो तुम और मैं दोनों मन-ही-मन जानते ही हैं। फिर भी मजा यह है कि तुम्हारे और मेरे, दोनों ही के अनुयायी शास्त्रकार 'अन्तिम बात' और 'चरम शब्द' कहने का दावा करने से चूकते नहीं हैं।

तुम्हारे अनुयायी अनेक आचार्यों के इस बाल्य प्रलाप से मेरा बड़ा मनो-विनोद होता है कि वे एक ओर तो वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का

निरूपण करते हैं, और अन्ततः वस्तु-सत्य को शब्द द्वारा अकथ्य मानते हैं, और उसी शास्त्र में आगे जाकर, वे अन्य मान्यतावाले धर्माचार्यों के कथनों का जोरों-शोरों से खण्डन भी करते हैं। जब वे यह समझ चुके हैं, कि शब्द में सत्य का कथन केवल एकदेश ही हो सकता है, फिर चाहे उनका अपना हो या दूसरों का हो, तब उसी शब्द द्वारा वे दूसरों के कथन का खण्डन कैसे कर सकते हैं ? हर कहीं भाषा में कही गयी बात को, सापेक्ष भाव से ग्रहण करना ही क्या सच्ची अनैकान्तिकता नहीं है ? और इस दृष्टि से क्या कोई भी 'समंजस-ज्ञानी' और 'अविरोधवाक्' सर्वज्ञ तीर्थंकर का अनुयायी, किसी अपने से अन्य के शास्त्र या मत का खण्डन करता है ? और यदि वह ऐसा करता है, तो क्या वह एकान्तवादी और हिंसक नहीं हो उठता ? क्या इस तरह वह लोक में सर्वज्ञकेवली और उनके केवलज्ञान का अपलाप ही नहीं करता है ? क्या [illegible] वह अपने अनेकान्तवाद और वस्तु के अनैकान्तिक स्वरूप का स्वयं ही हत्यारा नहीं हो जाता ?

सभी धर्म-प्रवर्तकों के इन अनुयायियों की कृपा से लोक में धर्म की ऐसी ग्लानि हुई है, कि आज पृथ्वी पर से धर्म के विलुप्त हो जाने का खतरा सामने है। देख रहा हूँ, चिरकाल से इन ज्ञानाभासी मानव-अनुयायियों की यही प्रवृत्ति रही है कि वे अपने किसी एक प्रिय शलाकापुरुष को अपना गुरु बना लेते हैं, और उसी को सर्वोपरि देवत्व के आसन पर बिठाकर, अन्य सारे शलाकापुरुषों के भ्रामक और गलत चित्र अपने शास्त्रों में आँकते हैं, और उन सबको अपने मनमाने चुनिन्दा महापुरुष के चरणों में बिठा देते हैं। भरत-क्षेत्र के आर्यखण्ड भारत में इस समय यह प्रवृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँची है। हर किसी सच्चे गुरु के अनुयायी भी, हर दूसरे सच्चे गुरु के खण्डन और निन्दा में ही अपनी गुरुभक्ति की इतिश्री समझते हैं। तुम्हें तो पता ही है, पुरातन और मध्य-युगों में इन अनुयायियों ने अपने हठीले बौद्धिक आग्रह की तुष्टि के लिए अपने-अपने तर्कों के न्यायशास्त्र ही रच डाले; और फलतः धर्म आत्म-साक्षात्कार का क्षेत्र न रहकर,

नैयायिक योद्धाओं के बुद्धिबल की टक्करों का एक खासा कुरुक्षेत्र ही हो गया।

इन्हीं अनुयायियों की कृपा है, कि इनके रचे शास्त्रों ने तुम्हारे और मेरे बीच अज्ञानान्धकार की एक अभेद्य वज्र-दीवार ही खड़ी कर दी है। हम दोनों तो परस्पर एक-दूसरे की आत्मस्थिति को यथार्थ रूप में समझते हैं और परम सत्ता में यथास्थान जुड़े हुए हैं। हम दोनों एक ही परम सत्ता की दो अनिवार्य स्थितियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं। तुम आत्म-सत्ता की स्थितिमत्ता के अधीश्वर हो, और मैं उसकी निरन्तर गति-प्रगतिमत्ता का अवतरण हूँ। तुम सत्ता के केन्द्रस्थ परम पुरुष हो, मैं उसकी व्याप्ति में आभ्यन्तर सन्तुलन का संयोजक हूँ। तुम सत्ता के अन्तर्मुख एकत्व के सुमेरु हो, मैं उसके बहिर्मुख बहुत्व का संवाहक हूँ। तुम परात्पर परब्रह्म हो, मैं महाविष्णु लीला-पुरुषोत्तम हूँ। मगर इन अनुयायियों ने अपने सीमित मति-श्रुतिज्ञान से, अपनी वैकल्पिक मानसिक बुद्धि और उसके द्वारा रचे शास्त्रों से, एक ही नानामुखी अनैकान्तिक सत्ता का मनमाना ऑपरेशन करके परम सत्ता को विकलांग और लहूलुहान कर दिया है। इन्होंने अपनी भ्रामक बुद्धि के तीखे फलों से, तुम्हें और मुझे काटकर, अलग-अलग करके फेंक दिया है।

इसका दुष्परिणाम यह हुआ है, कि बुद्धि की वह अलगाव और भेद-भिन्न-भाव की वृत्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। और इस तरह मौलिक सत्ता के व्यवच्छेदन से, उसका व्यंजक जो धर्म है, उसके लोक से सर्वथा विलुप्त हो जाने की संकट-घड़ी आ पहुँची है। इस चरम अहंकार और स्वार्थ-लिप्सा से जब भिन्नत्वकारी धर्माचार्यों का पतन हो गया, तो धन और सत्ता की लोलुप राजनीति ने धर्म का स्थान छीन लिया है, और भगवान् के आसन का उच्छेद कर दिया है। और अब ये उद्दण्ड राजपुरुष ही लोक के स्वयं-नियुक्त विधाता बन बैठे हैं। इन राज-सत्ताधीशों का आतंक इतना प्रबल हो गया है कि वर्तमान में पृथ्वी पर विद्यमान सच्चे धर्मगुरु भी, जाने-अनजाने इन राजपुरुषों के हाथों के हथियार बनते जा

रहे हैं। ऐसा लगता है कि राजगुरु महर्षि वशिष्ठ का स्थान, राजत्व के क्रीतदास द्रोणाचार्य ने ले लिया है।

...चिन्ता तो तुम्हें और मुझे क्या व्याप सकती है : तुम यह खेल वीतराग भाव से देख रहे हो, और मैं द्यूत की इस चौसर में द्यूत का पासा और खिलाड़ी एक साथ बनकर खेल रहा हूँ। कभी भी वह क्षण आ ही सकता है, कि इन प्रमत्त खिलाड़ियों का पासा बना हुआ मैं, एकाएक सुदर्शन-चक्र हो उठूँगा, और इस सारी बाजी को विपल मात्र में उलटकर फेंक दूँगा। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' के अपने कौल के अनुसार 'धर्मसंस्थापनार्थाय' मेरे युग-युग-सम्भव स्वरूप के प्रकटीकरण का ठीक मुहूर्त अब आ पहुँचा है।

o o o

प्यारे नेमी, एक मजेदार इत्तिफ़ाक हो गया है कि मेरे धर्मसंस्थापनार्थ फिर से अवतरित होने की यह घोषणा, एकाएक इस पत्र द्वारा मुझसे हो गयी है। (दिल्ली, लन्दन, न्यूयॉर्क, मास्को और पीकिंग में इससे निश्चय ही तहलका मच जाएगा) : एक लड़का इसका निमित्त बन गया है। अपने जीवन में सर्वांगीण यातनाओं की पराकाष्ठाएँ भोगकर, वह श्रीगुरुकृपा से किंचित् जाग उठा है। और जगत् की अनुयायी भेड़िया-धँसानों से छिटककर साहसपूर्वक अलग खड़ा हो गया है। लोक में अन्तिम रूप से हो रही धर्म की ग्लानि से इसकी आत्मा सन्तप्त और सन्त्रस्त है।

यह लड़का अपनी मूलगत चेतना से ही अनुयायी प्रकृति का नहीं है, बल्कि प्रेमी स्वभाव का है। यों लोक में यह तुम्हारे ही अनुयायी जैन कुल में जन्मा है, किन्तु प्रेमी भाव-चेतना के कारण सहज ही अनेकान्तदर्शी और सत्यदर्शी है। सत्ता का समन्वित स्वरूप इसके स्वभाव में स्पष्ट झलकता है। सो यह अनुयायी किसी का नहीं, केवल अपने आत्म-स्वरूप और आत्म-धर्म का अनुगामी है। अपने श्रीगुरु से भी इसने यही जीवन-मन्त्र

पाया है। कहता है : 'आपको ध्याओ, आपको पूजो, आपको प्रेम करो, आपमें ही सर्व को पाओ, आपको पाना ही सर्व समस्याओं का समाधान है।' इसी मन्त्र-दर्शन के कारण वह तुम्हारा और मेरा समान रूप से प्रेमी और भक्त है। कारण, यह हम दोनों ही के यथार्थ स्वरूप को पहचानता है।

लोक में धर्म की ग्लानि से बेहद पीड़ित होकर, यह तुम तक या मुझ तक पहुँचने को छटपटा रहा था। यह चाहता है कि अधर्म के विनाश और धर्म के परित्राण तथा पुनःस्थापना का कोई महाप्रयत्न किया जाना चाहिए। तुम तो परब्राह्मी सिद्ध अवस्था में हो, लोक के केवल वीतराग द्रष्टा हो, सो तुमसे तो किसी प्रयत्न की प्रत्याशा न कर सका। लेकिन तुम्हें प्रणाम कर यह किसी तरह, अपनी ही अतलगामी यातनाओं की राह, मुझे खोजता हुआ, पातालों की इस तीसरी पृथ्वी में मेरे पास आ पहुँचा है। वर्तमान लोक के आयुमान से तो अब वह वृद्धत्व के किनारे खड़ा है, मगर तुम्हारे-हमारे यानी शलाकापुरुषों के आयुमान से अभी इसका कुमारकाल ही चल रहा है। भाव और भंगिमा से लगता भी निरा लड़का ही है। ठीक मेरी ही तरह एकबारगी ही लीला-चंचल और गम्भीर है। अन्तःकरण से आत्मस्थ, सौम्य और सर्वप्रेमी है, लेकिन प्रवृत्ति में मेरे-जैसा ही उद्धत और तूफानी है। चींटी और वनस्पति तक की पीड़ा से संवेदित होता है; मगर असत्य और अन्याय पर तलवार बनकर टूटता है। सो यह लोक में निरा सर्वहारा होकर रह गया है। लेकिन बेचारा तो कहीं से लगता नहीं। सर्वालिंगन और सर्वसंहार, एक साथ इसकी दोनों भौंहों पर खेलते हैं।

...नेमी, इस लड़के को सामने पाकर मुझे तुम्हारी बहुत-बहुत याद आ गयी। लड़का बोला : कुछ करना होगा, वासुदेव ! लोक में धर्म की यह चरम ग्लानि अब जीने नहीं दे रही। बोला कि—वीतराग प्रभु नेमिनाथ तो मेरी 'त्राहि माम्' सुनते तक नहीं; वे तो अपनी सिद्धावस्था में अविचल लयलीन हैं। पर आपकी वे सुनेंगे, क्योंकि आप उन परब्रह्म-पुरुष के ही संयुक्त लोकपाल-स्वरूप महाविष्णु हैं। हो सके तो आप दोनों मिलकर कोई

उपाय कीजिए कि लोक को इन अहं-स्वार्थों से प्रमत्त मिथ्या धर्माचार्यों और राजपुरुषों की आपा-धापी से बचाया जा सके, और सत्य-संयुक्त समन्वित नवधर्म की लोक में स्थापना हो सके। बोला कि—हे वासुदेव, क्यों न आप एक पत्र तीर्थंकर सिद्धात्मा नेमिनाथ को लिखें : और उसके द्वारा, जो अनेक भ्रान्तियाँ और गलतफहमियाँ इन कट्टरपन्थी अनुयायी धर्माचारियों ने धर्म के नाम पर फैला रखी हैं, उनका प्रत्याख्यान करें। अपने और नेमिनाथ के स्वरूप की ठीक-ठीक व्याख्या प्रस्तुत करें, ताकि मामलात साफ हों, और लोक में समग्र और अनैकान्तिक सत्य को देखने की स्पष्ट और सापेक्ष दृष्टि का आविर्भाव हो सके। वह कहता है कि 'गीता' तक की स्थापित-स्वार्थियों ने स्वार्थपोषक मनमानी व्याख्याएँ कर डाली हैं, और आवश्यक है कि मैं पुनः नवयुगीन गीता का उच्चार करूँ। इस लड़के का आग्रह है कि यह पत्र मैं उसे 'डिक्टेट' करवा दूँ—सो भाई, करवा रहा हूँ। तुम्हारे और मेरे बीच तो वस्तुतः पत्र का व्यवधान भी कहाँ है, पर लोक-परिचालना के लिए यह उपचार एक कारगर निमित्त सिद्ध होगा। तुम्हें पत्र लिखवा रहा हूँ, तो समस्त लोकाकाश में व्याप कर ही तो यह तुम तक पहुँच सकेगा।

○ ○ ○

...देखो तो नेमी, इन अनुयायियों की चलते ऐसा व्यंग्य घटित हुआ है, कि मानो हमारे जीवनों से ये शास्त्र नहीं निकले हैं, बल्कि ये साम्प्रदायिक शास्त्रकार ही आज के लोक में हमारे निर्माता और विधाता बन बैठे हैं। हमारे इन छद्म चरित्रकारों ने अपने-अपने पन्थ-सम्प्रदाय की पुष्टि के लिए हमें मनमाना रँगा और चित्रित किया है। उदाहरण के लिए मुझे एकमेव भगवान् बनाने की धुन में, मेरे अनुयायी आचार्यों ने, मेरे जीवन-चरित्र में से तीर्थंकर अरिष्टनेमि को एकदम ही गायब कर दिया है। तुम-हम जीवन में सदा अटूट साथ रहे, जुड़े रहे, संयुक्त सत्ता की अनिवार्य जुगल-जोड़ी

होकर रहे। हमारे व्यक्तित्व जीवन की लीला में एक-दूसरे के पूरक होकर रहे। तुम सम्यक्दर्शी और सम्यक्ज्ञानी होकर रहे, मैं तुम्हारे समयक्दर्शनज्ञान को लोक में सम्यक् क्रिया और आचरण द्वारा रूपायित करता रहा। तुम शुद्ध आत्मयोगी होकर रहे, मैं शुद्ध कर्मयोगी होकर रहा। मैं तुम्हारे आत्म-योग को, आत्म-स्वरूप-स्थिति को, अपने कर्मयोग द्वारा, जीवन में प्रतिष्ठित और संचालित करता रहा। तुम मूर्तिमान् धर्म होकर रहे, मैं उस धर्म को निरन्तर यथार्थ कर्म में परिणत करता रहा। मैं उस धर्म का संवाहक जाज्वल्यमान कर्म होकर रहा।

लेकिन स्थापित-स्वार्थी अनुयायियों ने अपने अहं की पुष्टि और स्वार्थ की तुष्टि के लिए मौलिक सत्ता के प्रतिनिधि-स्वरूप, हमारे अस्ति-आविः-संयुक्त युगल को छिन्न-भिन्न करके ही चैन लिया। मेरे अनुयायियों ने मेरे जीवन-चरित्र में से तुम्हें हटा दिया, और तुम्हारे अनुयायियों ने तुम्हें सर्वोपरि भगवत्ता के सिंहासन पर स्थापित करने के लिए, मेरा सत्ता-लोलुप प्रतिद्वन्द्वी और प्रतिस्पर्धी के रूप में चित्रण करके, मुझे मायाचारी, कुटिल-कपटी और युद्ध-विग्रह का प्रेमी सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस तरह धर्म और कर्म का अविनाभावी युगल इन्होंने तोड़ दिया। फलतः लोक में धर्म की घनघोर ग्लानि उत्पन्न हुई है।

...इस लड़के को सामने पाकर आज मेरा मन बहुत कोमल और संवेदनशील हो उठा है। कुछ पुरानी स्मृतियाँ तेजी से उभर रही हैं।...यों तो भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों तुम्हारे ज्ञान में सतत झलक रहे हैं, और मैं इन तीनों कालों में अपनी इच्छानुसार, चाहे जब मनमाना जी लेता हूँ। फिर भी अलग से आज कुछ बातों को मन के स्तर पर याद करने को मेरा जी उमड़ आया है।

...तुम्हें याद होगा नेमी, एक बार हम सब मिलकर, अपने-अपने अन्तःपुरों के साथ, 'महाकाम वन' के लीला-सरोवर में जल-क्रीड़ा करने गये थे। कुछ ऐसी तन्मयता से हम जल-केलि में निमग्न हो गये थे, कि हमें बाह्य देश-काल के व्यवहार-व्यवधानों का भी खयाल न रहा था। मेरे

तो तब तक कई विवाह हो चुके थे, पर तुम मुझसे वय में छोटे थे, और स्वभाव से ही इतने आत्मलीन थे कि रमणी और विवाह को अपने से अलग लोक में देखना तुम्हारे वश का ही नहीं था। जल-केलि की उस तल्लीनता में, शायद तुम इतने गहरे आत्मभाव में प्रवेश कर गये थे कि अपने-पराये के लौकिक सम्बन्धों की चेतना ही तुममें नहीं रह गयी थी।

...तुम अपनी भाभी सत्यभामा के साथ भान भूलकर जल-क्रीड़ा में खो गये थे। एकाएक सत्यभामा ने तुम्हें टोक दिया था : "नेमी, तुम तो मुझ पर इस तरह पानी उछाल रहे हो, मानो कि मैं तुम्हारी प्रिया हूँ !"

तुमने सहज बाल्यभाव से हँसकर प्रतिप्रश्न किया : "क्या तुम मेरी प्रिया नहीं हो, भाभी ?"

मानिनी और मोहिनी नारी को अवसर मिल गया कि अपने इस जन्मजात मौनी-मुनि, विरागी देवर के हृदय में राग जगाये, उसे उकसाये। सो सत्यभामा ने तुम्हारे पौरुष को चुनौती देकर, उसे भरपूर जगाने की चेष्टा की। वह बोली :

"यदि मैं तुम्हारी प्रिया हो जाऊँगी, तो तुम्हारे भैया कृष्ण कहाँ जाएँगे ?"

तुमने यों ही कह दिया : "किसी और कामिनी के पास चले जाएँगे। उन्हें कामिनियों की कौन कमी है ?"

ऐसे अवसरों पर पुरुष को वशीभूत करने के लिए नारी का जैसा तरीका होता है, वैसे ही सत्यभामा ने नाराजगी का अभिनय करके, तुम्हें कलंकित करना चाहा, ताकि तुम्हारे भीतर आकर्षण अदम्य हो उठे। सो वह बोली :

"नेमी लाला, अब तक तो हम सब तुम्हें बहुत सरल समझते थे, पर मुझे क्या पता था कि तुम इतने कुटिल भी हो।"

विवाद तुम्हें कभी प्रिय नहीं रहा। तुम उत्तर दिये बिना ही, तट पर जाकर वस्त्र बदलने लगे। तुम्हारी भाभी को अवज्ञा का यह आघात असह्य हो उठा। वह भीगे वस्त्रों से ही बदहवास-सी तुम्हारे पास दौड़ी आयी।

तुम अविचल, तटस्थ रहे। फिर मुसकराकर सत्यभामा को अपनी भींगी धोती दिखाकर बोले :

''भाभी, इसे धोकर निचोड़ दो !''

मन में तो सत्या को यह अच्छा लगा; फिर भी अपने मान की धार को तेज कर वह बोली :

''नेमी, तुम्हें जानना चाहिए कि मैं अप्रतिहत बली वासुदेव कृष्ण की पट्टमहिषी हूँ ! वह कृष्ण, जिसने नाग-शय्या पर चढ़कर दिव्य शार्ङ्ग धनुष का सन्धान किया था। तब दिग्दिगन्त थर्रा उठे थे। क्या तुम्हारी भुजाओं में ऐसा बल है कि मैं तुम्हारी धोती धोऊँ, तुम्हारी दासी होकर रहूँ।''

''सुनो भाभी, दासी और रानी, दोनों ही की मुझे अपेक्षा नहीं; पर यदि आज मेरा बाहुबल देखने की तुम्हारी इच्छा है, तो उसे अवश्य पूरी कर देना चाहता हूँ।''

कहकर तुम तपाक् से रथ में जा बैठे थे, और अकेले ही नगर को लौट पड़े थे। पीछे से हम सब भी हँसते-बतियाते महल लौट आये। मैं ठहरा जनम का कौतुकी। तुम्हारे और सत्या के बीच जो घटा, उसे दूर से मैं चुपचाप देख-सुन रहा था। सो आगामी विस्फोट के लिए तैयार था।

...तुम रथ से उतरकर सीधे सन्नाते हुए मेरी आयुधशाला में चले गये थे। दुर्निवार समुद्र की तरह तुम उस भयावह भुजंग-शय्या पर यों चढ़ गये, जैसे सहज भाव से अपनी शय्या पर चढ़े हो। सहस्रों नागमणियों से दीपित शार्ङ्ग धनुष को तुमने खिलौने की तरह उठाकर तान दिया। उसकी टंकार से तमाम लोकाकाश थर्रा उठा। फिर तुमने मेरा पाँचजन्य उठाकर फूँक दिया : तो दिशाएँ लताओं-सी कम्पित होकर तुम्हारे चरणों में लिपट गयीं।

...अपनी कुसुम-चित्रा सभा में बैठे हुए मैं बड़े कौतुक-कौतूहल से तुम्हारी इस लीला को देखता रहा। मानभंग से क्षुब्ध होकर सत्यभामा मेरे पास दौड़ी आयी और बोली :

''नेमिकुमार की इस उद्दण्डता को देखकर भी, आप चुप बैठे हैं ! वह आपकी सत्ता को चुनौती दे रहा है !''

मैंने मुसकराकर कहा :

"सत्या, तुम नेमी को नहीं पहचानतीं। मुझसे अधिक मेरे उस भाई को कोई नहीं जानता।...यह बताओ, आज तुम उससे ऐसी नाराज क्यों हो गयी हो ? देखता हूँ, कहीं उसने तुम्हारे मर्म पर आघात किया है...!"

सत्या झल्लायी :

"आपको तो हर बात में विनोद सूझता है ! कान खोलकर सुनो, तुम्हारे इस भोले-भाले नेमी ने आज मुझसे प्रिया की तरह क्रीड़ा करने की चेष्टा की। मैंने टोका, तो ढीठ होकर बोला—क्या तुम मेरी प्रिया नहीं ? फिर मुझसे बोला कि—मेरी धोती धो दो...मेरे सहने की पराकाष्ठा हो गयी। मैंने उसके बाहुबल को ललकारा, तो बिना तुम्हारी आज्ञा के तुम्हारी आयुधशाला में जाकर, तुम्हारी होड़ में उसने तुम्हारा शार्ङ्ग धनुष चढ़ा दिया...! समझ लो अच्छी तरह, वह तुम्हारी सत्ता और पौरुष, दोनों को चुनौती दे रहा है !..."

मुझे इस कथा में बहुत रस आया। मैं सीधे सत्या के मर्म को बेधता-सा बोला :

"अरे सत्या, यह तो शुभ संवाद है। तुमने मेरे उस मौनी-मुनि भाई के विरागी हृदय में राग जगा दिया। यह तो तुम्हारी विजय हुई। और प्रिया, उसने तुम्हें सच ही तो कहा है। सच्ची बात बताओ मन की, क्या तुम उसकी प्रिया नहीं होना चाहतीं ? क्या इसीलिए तुमने उसे शार्ङ्ग धनुष चढ़ाने की चुनौती नहीं दी ? क्या इसीलिए तुमने उसके बाहुबल को नहीं ललकारा ?"

सत्या पहले तो लज्जा से भर रही, फिर घायल सिंहनी-सी उछलकर बोली :

"आपको कुछ होश भी है आप क्या बोल रहे हैं ? हर समय विनोद अच्छा नहीं लगता, स्वामी !"

"तुम तो जानती हो सत्या, मेरे लिए तो यह सारा संसार लीला-विनोद

ही है। अपना-पराया सब मेरे लिए केवल खेल है।...नेमी को खोकर तुम पछताओगी, सत्या !"

"आपकी लीला से मैं हारी, देवता, पर अपने इस भाई से सावधान रहिए ! वह तुम्हारे अर्द्ध-चक्री सिंहासन का प्रतिद्वन्द्वी है ! तुम्हारी चक्रवर्ती सत्ता का वह प्रतिस्पर्धी है।"

मुझे जोरों से हँसी आ गयी। मैंने कहा :

"सुनो सत्या, नेमी को पहचाननेवाली नारी अभी इस पृथ्वी पर या तो जनमी नहीं, और जनमी हो तो उसको मुझे खोज लाना होगा। तीर्थंकर की नियोगिनी को वासुदेव ही पहचान सकता है। और देखो, सत्या, हम दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी और प्रतिस्पर्धी नहीं, पूरक हैं। अरिष्टनेमि की नियति को केवल मैं जानता हूँ। उसके सिद्ध होने का समय आ गया है। तुम्हें और जगत् को अब मैं दिखाऊँगा कि नेमिकुमार कौन है ?"

० ० ०

रसेश्वर कृष्ण की निगाह से राजुल ओझल न रह सकी। तीर्थंकर की आत्मेश्वरी को विपल मात्र में मैंने पहचान लिया।...तुम तो अब सदा के लिए चुप हो गये थे, नेमी। तुम तो अन्तर्मुख वीतराग भाव से केवल होनी के द्रष्टा हो रहे। किन्तु लीला-पुरुष कृष्ण लोक में तुम्हारी नियति का विधाता बनकर खेलने लगा। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् !' का उद्‌गाता मैं स्वयं महासत्ता की पारमेश्वरी इच्छा का निमित्त बनकर प्रकट हुआ। मैंने संकल्प किया कि अपने भीतर बैठे परमहंस स्वरूप को, तुम्हारे रूप में जगत् के समक्ष साकार करूँगा। मैं अर्हत् केवली अरिष्टनेमि के यथासमय अवतरण का आयोजन करूँगा।

...मैंने जिह्वा-लोलुप हो गये यादवों की हिंसकता का परदा फाश करने की चाल चली। राजुल को ब्याहने के लिए मैं तुम्हारी बारात का नेतृत्व करता हुआ, मथुरा के राजपथ पर जा चढ़ा। बारातियों के भोज के लिए

बाड़े में बन्दी मृगों की ओर मैंने तुम्हारा ध्यान आकृष्ट किया। मैं तुम्हें सर्वचराचर-वल्लभ भगवान् बनाना चाहता था : मैं लोक में तुम्हारे तीर्थंकर का समवसरण रचना चाहता था। मैं तुम्हारे धर्म-चक्र का संवाहक होना चाहता था।

...गवाक्ष पर तुम्हें देखने को चढ़ी राजुल, उधर तुम्हारी वीतराग चितवन से आत्महारा हो गयी और इधर तुम्हारी वही चितवन, पशुओं को बन्दी देखकर महाकारुणिक विश्व-प्रेम से सजल हो उठी। संयुक्त जीवन-लीला के उस एक ही क्षण ने तुम्हारा संसार समाप्त कर दिया।...निमिष मात्र में ही तुम सारे बन्धन काटकर गिरनार चढ़ गये। और राजुल छाया की तरह तुम्हारी अनुसारिणी हो गयी। इस प्रसंग में लौकिक नाटक मैंने जो भी किया हो, पर अपना मनोरथ मैंने सिद्ध कर लिया। केवलज्ञान के सूर्य होकर, तीर्थंकर नेमिनाथ के गिरनार से उतरने और पृथ्वी पर धर्मचक्र प्रवर्तन करने की मैं प्रतीक्षा करने लगा।...

द्वैत के अज्ञान में ही जो जी रहे थे, वे नियति-नटी के नटेश्वर कृष्ण की नाट्य-लीला का रहस्य नहीं समझ सके। उन्होंने मेरे इस प्रकट में विरोधी लगते नाटक का मनमाना अर्थ लगा लिया। वे तुम्हारी और मेरी संयुक्त भागवत सत्ता के मर्म को न बूझ सके। उन्होंने मुझ पर अपने शास्त्रों में आरोप लगाया कि मैं राज्य-लोभी था, और तीर्थंकर नेमिनाथ के बाहुबल से भयभीत होकर मैं चौकन्ना हो गया था कि कहीं अरिष्टनेमि मेरी राजसत्ता के सिंहासन को मुझसे छीन न लें। सो तुम्हारे उन भक्तों के अनुसार, मैंने ही तुम्हारे ब्याह का प्रपंच रचा। मैंने ही बाड़े में पशु घिरवाकर तुम्हें संसार से विरक्त करवाकर, आरण्यक बनवा दिया। और इस तरह अपनी राजसत्ता को सुरक्षित कर, मैंने निश्चिन्त हो जाना चाहा था।...

मेरे कैवल्य-सूर्य, सर्वान्तर्यामी भाई नेमी, तुम्हारे सिवाय इस सत्य की साक्षी और कौन दे सकता है कि राजसत्ता का मैं जन्मजात विरोधी और विद्रोही था। इसी से यादवों के राजमहल को ठुकराकर मैंने कारागार में

जन्म लेना पसन्द किया। राजांगन में खेलना मुझे मंजूर न हुआ, मैं ब्रज के यमुना-तटों में अहीर गोपों और गोपियों का सखा बनकर, अपनी प्रजाओं के साथ पला और खेला। दुर्जेय अत्याचारी मामा कंस का वध करके भी, मैं मथुरा की राजगद्दी पर नहीं बैठा। मैंने सिंहासन महाराज उग्रसेन को सौंप दिया। जरासन्ध और कालयवन का संहार करके भी, मैंने उनके सिंहासनों पर अधिकार नहीं किया। उनके पुत्रों को धर्म-मन्त्र देकर उन्हें सिंहासनासीन कर दिया। हम यादव तो परम्परा से ही प्रजातान्त्रिक थे। अपने कुल की गौरवशाली परम्परा के अनुरूप ही मैं केवल वृष्णि-संघ का अधिपति और नेता होकर रहा। सत्ता के लोभ से नहीं, सेवा भाव से। नियोग से ही वासुदेव और त्रिखण्ड पृथ्वी का चक्रवर्ती अधीश्वर होकर जनमा था। सो पृथ्वी का केवल शरणागत-वत्सल नेता और लोक-प्रतिपालक होकर रहा। देवनगरी द्वारिका के राज्यैश्वर्य में विलास करने की मुझे फुरसत ही कब मिली ? मदोन्मत्त राजसत्ताओं को समाप्त करके, पृथ्वी पर धर्मराज्य की स्थापना करने के लिए मेरा जन्म हुआ था। अपनी उसी नियति को सिद्ध करने के लिए, आसेतु-हिमाचल आर्यावर्त में मैं आजीवन दौड़ता फिरा। हवाओं पर आरोहण करते रथों के विद्युत्वेगी अश्वों की वल्गाओं पर ही मेरा सारा जीवन बीता।

आर्यावर्त के अधःपतन के मूल कौरवों का विध्वंस करवाने के लिए, और धर्मजात पाण्डवों का धर्मराज्य पृथ्वी पर लाने के लिए, मैंने कुरुक्षेत्र में निःशस्त्र और अयुद्धयमान रहकर, पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन के रथ का सारथ्य किया। और एक सारथी के रूप में, मैंने ठीक रणांगन के मोर्चे पर, आत्मधर्म और लोकधर्म की संयोजक गीता उच्चरित की। केवल अपने इंगितों पर, मात्र अठारह दिन में, दुर्दण्ड कौरवों की माण्डलिक, भारतवर्ष की अनाचारी राजसत्ताओं का, मैंने पाण्डवों द्वारा संहार करवा दिया। चाहता तो हस्तिनापुर के राजसिंहासन को मैं अपना चरण-दास बनाकर रख सकता था। पर मैं त्रिखण्डाधीश चक्रवर्ती मानमत्त राजभोग के लिए नहीं हुआ था। मैं राज्यत्व का मूलोच्छेद करके, तमाम सिंहासनधरों को

प्रजा के सेवक बनाने आया था। सो स्वयं सिंहासन पर कैसे चढ़ सकता था ? द्वारिका के सिंहासन पर मैंने कभी पैर तक नहीं रखा। उसकी देवदुर्लभ रत्नप्रभा धर्मचक्रेश्वर तीर्थंकर की प्रतीक्षा में थी।

...नियत मुहूर्त में, लोकसूर्य अरिहन्त होकर, तीर्थंकर नेमिनाथ गिरनार से उत्तर आये। मैंने उस दिन द्वारिका में राज्याभिषेक का महोत्सव रचाया। मैंने हरिवंशियों के आपूर्ति कल्पतर, शरणागत-वल्लभ राजसिंहासन को तुम्हारे समवसरण (धर्म-सभा) में परिणत कर दिया।...गन्धकुटी के कमलासन पर, अन्तरिक्ष में अधर विराजमान अर्हत् अरिष्टनेमि की दिव्यध्वनि जब लोक में प्रवाहित हुई, तो तमाम जड़-जंगम सृष्टि धर्म से आप्लावित हो उठी। आर्यावर्त के बड़े-बड़े सिंहासनधर तुम्हारे चरणों में प्रव्रजित होकर, तुम्हारी धर्म-देशना के अनुशास्ता हो गये। प्रद्युम्न-जैसा मेरा प्रतापी कामकुमार पौत्र, यदुकुल का वह सलौना भुवनमोहन राजपुत्र, मुण्डित भिक्षु होकर, तुम्हारे आत्मधर्म का संवाहक हो गया। उसके अनुसरण में साम्ब आदि सहस्रों यदुवंशी राजपुत्र जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर दिगम्बर विचरने लगे। रत्निम फूल-शय्याओं में विलसनेवाली यदुवंश की अनेक शिरीष-कोमला राजकन्याएँ और राजवधुएँ तुम्हारी शरणागता सतियाँ हो गयीं, और उन्होंने हँसते-हँसते कंकड़-काँटों की शय्याएँ अंगीकार कर लीं। स्वयं मेरी पट्टमहिषी पद्मावती मेरे कौस्तुभ-मण्डित वक्ष का त्याग कर तुम्हारी चरण-धूलि हो रही। मैंने सर्वत्र घोषणा करवा दी कि जो भी कोई स्त्री-पुरुष अभिनिष्क्रमण कर तीर्थंकर नेमिनाथ के मोक्षमार्ग में प्रव्रजित होना चाहें, वे खुशी-खुशी जाएँ, उनके परिवार का भार वासुदेव कृष्ण वहन करेगा।

...अपनी नियति मैं जानता था, फिर भी तुम्हारे मुँह से वह सुनना और जगत् को सुनवाना चाहता था। सो मानुष भाव में आकर मन-ही-मन मैंने प्रश्न किया : "प्रभु, क्या मैं प्रव्रजित न हो सकूँगा, मैं जघन्य ही रहूँगा ?"

तत्काल तुम बोले कैवल्य-सूर्य नेमिनाथ :

"वासुदेव कृष्ण प्रव्रज्या से परे है। जगदीश्वर के लिए संन्यास अनावश्यक

है। तुम लोक-प्रतिपालक महाविष्णु हो! सम्यक्‌दर्शी जीवन्मुक्त कृष्ण चिरकाल लोक में विलास करता हुआ, अपनी परमेश्वरी रासलीला और कर्मलीला से, अद्यावधि लोक के हृदय-साम्राज्य पर राज्य करेगा। योगीश्वर कृष्ण और तीर्थंकर नेमिनाथ एक ही परम सत्ता के दो अनैकान्तिक पहलू हैं। तीर्थंकर स्थिति का अधीश्वर है, नारायण वासुदेव कृष्ण गति-प्रगति का स्वामी है!"

लोक की जानकारी के लिए, जानते हुए भी अनजान बनकर मैंने पूछा :

"और कृष्ण का भविष्य, प्रभु ?"

"तुम कालाधीन नहीं, कालाबाधित हो, कृष्ण ! विश्व-मंगल की आवश्यकतानुसार तुम स्वयं अपने भविष्य के विधाता हो। अपने स्वायत्त शासन से अब तुम लोक का पाप-प्रक्षालन करने के लिए नरक-यात्रा करोगे। वासुदेव अपनी नियति से ही कर्मयोगी होता है, जनमन-रंजन होता है। लोकजन के बीच ठीक मानवजन की तरह रहकर ही, वह मनुष्य के सुख-दुखों और कष्टभोगों का सहयोगी होता है। उसके रूप में नारायण नर-लीला करते हैं। वह नरकों तक में स्वयं निवास कर, अज्ञानी आत्माओं के नारकीय कष्ट-क्लेशों का साक्षी और सहभोगी होकर रहता है। नहीं तो नरकों के उस घोर पापान्धकार में ज्ञान की जोत कौन उजाले ! सो इस बार तीसरी पृथ्वी 'बालुका-प्रभा' में, तुम अपनी नाग-शय्या बिछाओगे, लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण !"

"और उसके बाद...?"

"उसके बाद, इसी भरत-क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी में, पुण्ड्र देश के शतद्वार जनपद में अमम नामक अर्हत् तीर्थंकर के रूप में अवतरित होओगे ?"

"भगवन्, आपके साथ सिद्धालय में आ बैठने के लिए ?..."

"सुनो कृष्ण, वह रहस्य खोलने का समय अभी नहीं आया। इतना ही कहता हूँ कि अर्हत् केवली अपनी इच्छा का स्वामी होता है। सो

सिद्धालय और लोकालय के बीच चुनने को तुम स्वतन्त्र होगे। लोक में ही मुक्त और दिव्य जीवन रचना चाहोगे तो अपने अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के बल पर लोक-जीवन को आमूल रूपान्तरित कर सकोगे ! तथास्तु !"

अपनी नियति को मैं जानता था। फिर भी लोक के समक्ष तुम्हारी दिव्य-ध्वनि से उसे घोषित करवाना चाहता था। घोषित तो वह हुई, पर अर्द्धज्ञानी और अज्ञानी अनुयायियों तक पहुँचते-पहुँचते, श्रुतियों की परम्परा में उसका समूचा रूप ही विकृत हो गया।

आत्माहुति की उज्ज्वल वेदना से तपःपूत 'बालुका-प्रभा पृथ्वी' की इस नरक-शय्या पर तुम्हारी वह वाणी आज फिर से प्रत्यक्ष सुन रहा हूँ। और अपने भावी तीर्थंकर-जीवन की अपूर्व रूपरेखा मेरी आँखों के सामने उभर रही है। तुम्हारे अनुयायियों को मेरे भावी तीर्थंकरत्व से, मेरा यह स्वैच्छिक नरक-प्रवास ही अधिक प्रिय है। वे नहीं जानते कि उन्हीं के पाप धोने के लिए मैंने नरक की इस वैतरणी को अंगीकार किया है ! तुम तो जानते हो, मैं तो जनम का ही खिलाड़ी हूँ, सो तुम्हारे अनुयायियों के इस प्रिय नरक को भी खेल-खेल में भोग रहा हूँ। जन्म-जरा-मरण, रोग-शोक, वियोग-दुर्योग के तमाम दुखों को लीला में परिणत कर देना ही तो मेरी एकमात्र अस्मिता और नियति है। सो वही निरन्तर करता रहता हूँ। मेरी वंशी तो अभी भी अनाहत बज रही है। लोक में मेरे गोप-सखा और मेरी गोपियाँ अभी भी महाभाव में तन्मय होकर मेरी प्रतीक्षा में हैं। राधा की बात मैंने तुम्हें कभी नहीं बतायी, नेमी, पर तुमसे मेरा क्या छुपा है। जब हम साथ थे, तो मैं प्रायः अपनी एकान्तिनी प्रिया राधा को तुम्हारी आँखों में मुसकराते देख लेता था, और राधा की आँखों में मुझे तुम्हारी निष्काम चितवन झाँकती दिखाई पड़ती थी। रुक्मिणी और सत्यभामा ने तुम्हें न भी पहचाना हो, पर राधा तुम्हें खूब पहचानती थी; क्योंकि उसके हृदय के पद्मासन पर बैठकर, तुम्हीं मुझे ऐसा अटूट और सर्वस्वत्यागी निष्काम प्रेम दे रहे थे। अब लोक की मिथ्या मर्यादाओं में बँधी सत्यभामाओं ने

ठीक-ठाक पहचान लिया होगा, कि तुम कौन हो, मैं कौन हूँ, राधा कौन है, और हमारा क्या सम्बन्ध है ? पूरा न भी जाना होगा, तो इस पत्र से जान लोगी।

o o o

देखो तो नेमी, यह जो लड़का अपने कष्टभोग की राह कृष्ण तक आ पहुँचा है न, यह कवि है, और मुझे पाकर इतना विह्वल हो गया है, कि रो-रोकर मुझसे आग्रह कर रहा है कि मेरे साथ इसी क्षण लोक में चलो, और वहाँ धर्म के नाम पर जो अनाचार और अज्ञान फैल रहा है, उसका विध्वंस कर, नवीन युग-धर्म की संस्थापना करो। पत्र का डिक्टेशन लेते हुए यह थकता नहीं : कहता है—लिखवाते ही जाओ प्रभु, इस पत्र का अन्त नहीं होना चाहिए।

मुझे हँसी आती है, और प्यार भी आता है, इस हठीले कवि-कुमार पर। लड़का शलाका-पुरुषीय परम्परा का जान पड़ता है। इसकी आँखों में विदग्ध प्यार की छलकती चितवन है, और इसका ललाट ब्रह्मतेज से देदीप्यमान है। यह लड़का मुझे बहुत प्रिय हो गया है।

मैंने इसे समझा दिया है कि अभी मेरे लोक में आने में थोड़ी देर है। अन्धकार अभी पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचा है। तब तक के लिए मैंने इस कवि को वरदान दिया है कि : "जा, तेरी काव्य-वाणी में मेरी सात सुरोंवाली अनेकान्तिनी, सप्तभंगी वंशी बजेगी ! तेरी सरस्वती के द्वारा विश्व में ज्ञान, तेज, रस, सौन्दर्य और कर्म के अश्रुतपूर्व नये स्रोत फूटेंगे। सृष्टि की जिस अपूर्व-कल्पा दिव्य रचना के लिए लोक में अब मेरा अवतरण होनेवाला है, उसका तू वर्तमान में स्वप्नद्रष्टा और क्रान्तद्रष्टा होकर रहेगा। उसका स्वप्न-दर्शन और मन्त्र-दर्शन तेरे काव्यगान द्वारा समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर व्याप जाएगा।"

सुनकर, लड़के ने अश्रु-विह्वल होकर मेरे चरणों को आलिंगन में बाँध

लिया है, और उन्हें अपने आँसुओं और चुम्बनों में नहला रहा है। इसके प्यार को देखकर, मेरा 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' हृदय पसीज उठा है।

...अरे यह क्या देख रहा हूँ : निरंजन-निराकार सिद्ध-परमेष्ठी नेमिनाथ अपने सिद्धासन पर अनायास रूप में प्रकट हो उठे हैं : उद्बोधन का हाथ उठाकर वे 'तथास्तु' कहकर मेरे आशीर्वाद का समर्थन कर रहे हैं।

देखकर, इस कवि-कुमार के आनन्द का पार नहीं। मैं इस लड़के का आभारी हूँ, नेमी, कि इसके निमित्त से तुम्हें यह पत्र लिखकर, अपनी लोकाभ्युदय की यात्रा में नया कदम उठा सका हूँ।

तुझे प्यार करूँ; या प्रणाम करूँ; मेरे लिए क्या अन्तर पड़ता है।

तुम्हारा अभिन्न

वासुदेव कृष्ण

(9 जून, 1973)

रूपान्तर की द्वाभा

आख्यान मैनासुन्दरी और श्रीपाल का

उज्जयिनी के महाराज पहुपाल, अपने क्षिप्रा-तटवर्ती राजोपवन में, विन्ध्याचल की एक भूरी चट्टान से निर्मित सिंहासन पर सुखासीन हैं। अपनी छोटी बेटी, राजकुमारी मैनासुन्दरी के साथ आज इधर सान्ध्य विहार को निकल आये हैं। अपनी इस सदा की सुगम्भीरा और मौनवती बेटी के मन की आज वे थाह लेना चाहते हैं।

क्षिप्रा की लहरों से चुम्बित वेला-फूलों की गन्ध से सुरक्षित, मालव की सन्ध्या के कुन्तल हवा में हौले-हौले लहरा रहे हैं। राजपुत्री ने पास ही पड़ा वेतस-लता का भद्रासन नहीं स्वीकारा। पिता के चरणों के पास ही, क्षिप्रा की एक स्तम्भित लहर-सी, वह जानु सिकोड़कर नतमाथ बैठी है।

"मैना, सुनता हूँ आर्यिका-श्रेष्ठ जिनमती से तुम उत्तम कैवल्य-विद्या सीख आयी हो ! सुन्दरी तो अनुपम हो ही, विदुषी भी हो गयी ! सुवर्ण की मंजूषा में कस्तूरी महक उठी है।"

"विदुषी नहीं हो सकी, तात। सारी विद्याएँ भूल आयी। पर सती-माँ के चरणों में अपने ही को पहचानने की पराविद्या का किंचित् प्रसाद जरूर पा गयी हूँ।"

"विन्ध्या की बेटी के अनोखे लावण्य और यौवन से, दिशाएँ सोनल हो उठी हैं, मैना।...समय आ गया है, और आर्यावर्त के शिरोमणि सिंहासनधर तुम्हारी जयमाल की प्रतीक्षा में हैं। जिसे चाहो, उसे चुनो : उसका माथा तुम्हारे पाणि-पल्लव तले झुक जाएगा !"

मैना सुन्दरी चुप, निस्पन्द बैठी रही। उसकी उँगली, एक दूर्वांकुर को दुलारती रही। देर तक मौन न टूटा, तो महाराज ने फिर कहा :

"मुहूर्त-क्षण आ गया मैना, चुनाव करो। किसी पट्ट-महिषी का सिंहासन तुम्हारे वरण का प्रार्थी है !"

"चुननेवाली मैं कौन होती हूँ, तात। महारानी तो भीतर बैठी हैं, बाहर कहीं नहीं। कर्तृत्व उन्हीं का है, मेरा नहीं। मैं केवल उनकी वाहिनी हूँ !..."

"ये भीतर कौन महारानी बैठी हैं ?"

"आत्मा की सुन्दरी का राज्य सर्वथा मुक्त है, महाराज ! वह चितिशक्ति परम स्वतन्त्र है। अपने परिणमन की वह स्वामिनी है।"

"तो वह तुमसे भिन्न, और कोई है क्या ?"

"भिन्न भी है, अभिन्न भी। यह प्रकट की रूपसी मैना, वह सम्पूर्ण नहीं, उसकी एक तरंग मात्र है।"

"तो पूछो अपनी अन्तर्वासिनी से, वे किसे चुनती हैं ?"

"उनके उपादान की राह जो भी आएगा !"

"यह उपादान और क्या बला है, मैना ?"

"अपनी ही आत्म-शक्ति, अपनी आन्तरिक सम्भावना। अपने ही अनन्त परिणमन की योग्यता।"

"तो वह तो तुम्हारे वश की है, तुम्हारी अपनी ही वस्तु। तुम्हारा ही आत्म-द्रव्य। उसमें किसी और से क्या पूछना है ?..."

"पूछना किसी से नहीं है, मुझे अपने ही सहज स्वरूप में घटित होते रहना है। चुनाव मुझे करना नहीं होगा, वह अपनेआप ही मेरे भीतर होगा : और तब मैना के नियोगी पुरुष स्वयं ही उसके द्वार पर आ खड़े होंगे।"

"यह तो चरम अहंकार हुआ, मैना। निमित्त भी तो मिलाना पड़ता है। तुम भी तो कुछ चाहोगी, तभी तो पाओगी। तुम झुकोगी, तभी तो कोई आकर तुम्हें उठाएगा। तुम्हें भी तो अभिलाषा करनी होगी, खोजना होगा। तभी तो तुम्हारी चाहत का पुरुष तुम्हारी राह आएगा।"

"इच्छा, अभीष्ट की प्राप्ति में बाधक होती है, तात। निरीह भाव से अपने आत्म-परिणमन को देखने में कितना सुख है, कैसे बताऊँ। काल भी तब हमारा वशवर्ती हो रहता है। तब अपना परम अभीष्ट आपोआप ही आ मिलता है। मन की इच्छा के चुनाव से उसमें बाधा आती है। और अपने में निश्चल रहना अहंकार नहीं महाराज, चाहें तो इसे सोऽहंकार कह सकते हैं।"

"यह तो आत्म-रति हुई, मैना। ऐसी प्रमत्तता, कि अपने सिवा किसी को प्यार ही नहीं कर सकतीं तुम। नारी होकर, स्वामी नहीं चाहती, उसके प्रति समर्पण करने को तैयार नहीं...?"

"आत्म-रति नहीं, आत्म-स्थिति कह सकते हैं, इसे आप। अपने को पूरा प्यार कर सकूँ, तभी तो औरों को समूचा प्यार कर सकूँगी।...मेरे स्वामी बाहर की राह नहीं, भीतर की राह आएँगे। आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त वे और कोई नहीं होंगे। और तब आत्म-समर्पित आपोआप हो रहूँगी। मिलन की वह घड़ी अचिन्त्य होगी महाराज !..."

"स्पष्ट सुन लो, मैना, यह सर्वनाशी अभिमान है। आज तक हमने आर्यावर्त में ऐसी स्वैराचारी कन्या नहीं सुनी, नहीं देखी !"

"तो आज देखें, पितृदेव ! और सुनें भी। अब तक जो देखा-सुना आपने, वही तो सब कुछ नहीं है। अनन्त गुण और पर्याय द्रव्य में सम्भव हैं। अपूर्व रूप से नवनूतन परिणमन, उसमें रमण ! यही मेरा स्वभाव है। सो मेरे भाव-राज्य के अधीश्वर मेरे परम पुरुष तो भतीर ही बैठे हैं, उन्हें बाहर कहाँ खोजूँ ? बाहर के प्रियतम का क्या भरोसा, जो कभी भी दगा दे जाए। जो इस क्षण प्यार करे, और अगले क्षण दुत्कार भी दे !..."

"तो तुम आजन्म कुँवारी रहोगी ? स्वच्छन्दाचारी ? साफ क्यों नहीं कहती, मैना !"

"मुझे तो खुद ही कुछ पता नहीं। इतना ही जानती हूँ, कि मेरे भीतर के परिणमन में जब वे प्रियतम प्रकट हो उठेंगे, ठीक तभी वे बाहर भी मेरे सामने आ खड़े होंगे।"

"यह तो स्वेच्छाचार हुआ, मैना ! तुम्हें जन्म देनेवाले जनक-जनेता

का तुम पर कोई अधिकार नहीं ?"

"जनक-जनेता तो आप मेरी इस देह के हैं, सो भी निमित्त मात्र से, महाराज। अपनी आत्मा की माता-पिता तो मैं स्वयं ही हूँ, और हो सकती हूँ। यह मेरा विचार नहीं, वस्तु-सत्य है !"

"तो मैं तुम्हारा जनक नहीं !...तुम्हारी माँ ने तुम्हें नहीं जना ?"

"हाँ, मैंने जन्म लेना चाहा, ठीक तभी आप दोनों निमित्त बने उसके !"

"हम कोरे निमित्त मात्र...? आप ही तुम जनम गयीं, आप ही अपनी पालनहार हो तुम ? मेरे राजमहलों के सुख-वैभव का सारभूत रस तुम्हारी हड्डी-हड्डी में संचित है। तुम इस सबकी ऋणी नहीं ? ऐसी, अधम, कृतघ्ना हो तुम ?..."

"कम कृतज्ञ नहीं हूँ, महाराज, अपने माता-पित की। इस वैभव-समृद्धि की। उपचार-व्यवहार अपनी जगह पर है, वस्तु-सत्य अपनी जगह पर। मैंने तो इतना ही कहा, कि जन्म मैंने लेना चाहा, तो जनक-जनेता ने अपने संयोग में मुझे झेला। और मैं जन्म लेकर कृतार्थ हुई, कृतज्ञ हुई, अखिल की, आप सबकी। पर अन्ततः, मैं ही क्यों, आप भी, और सब जन अपने जन्म-मरण के स्वामी स्वयं ही हैं। अन्य कोई नहीं !"

"ढीठ, निर्लज्ज ! मेरे वीर्य की बूँद मुझी से विद्रोह कर रही है...?"

"आप अपने वीर्य का और अपना स्वरूप, काश जान सकते, अवन्तीनाथ !..."

"जानता हूँ, खूब जानता हूँ उद्धत लड़की ! मैं नादान नहीं ! मैं तुम्हारा जन्म देनेवाला जनक हूँ। मेरे बिना, तेरा कहीं पता न होता ?..."

"मेरे जन्म के अन्तिम मालिक, महाराज पहुपाल हैं, तो मेरी मौत के मालिक क्यों नहीं ? जो मेरे जन्म का स्वामी है, उसे मेरे मरण का स्वामी भी होना चाहिए, तात ! क्या आप मुझे मरने से बचा सकते हैं, मेरे साथ मर सकते हैं ?"

"पिता से विवाद करने में तुम्हें लज्जा नहीं आती ? चुप रहो...! मैं

भी देखूँगा, कौन तुम्हारा वह भीतर का प्रीतम है। माता-पिता की आज्ञा और मर्यादा जो भंग करे, ऐसी कुलांगार कन्या का मैं मुंह नहीं देखना चाहता।...हट जाओ मेरे सामने से !"

"रुष्ट न हों, तात ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आपकी मर्यादा मेरे सिर-आँखों पर है। आप जो भी पति मेरे लिए चुन लाएँगे, उसी का वरण कर लूँगी।"

"अगर मैं कोई चाण्डाल, गलितकेशी, वृद्ध, क्षय-रोगी चुन लाऊँ तो ?"

"मेरा वरण करने वही आएगा, जो मेरा नियोगी होगा ! वह फिर कोई हो, कैसा भी हो, मुझे शिरोधार्य होगा ! देह, नाम, कुल-गोत्र से परे वह अपना होगा !"

"अच्छा तो, मैना, तू देख लेना : तेरे इस उद्धत अभिमान को तोड़कर ही मैं चैन लूँगा। और तभी तुझे होश आएगा।"

"तथास्तु, पितृदेव !"

कहकर मैनासुन्दरी आँचल माथे पर ओढ़कर, प्रणिपात में नत हो गयी। पिता की चरण-रज माथे पर चढ़ा ली। फिर दृष्टि उठाकर देखा, तो महाराज पहुपाल उन्मत्त क्रोध से झपटते हुए, अपने प्रासाद की ओर जाते दिखाई पड़े।

...मैना उद्यान के रेलिंग पर खड़ी होकर, नीचे बही जा रही क्षिप्रा की लहरों में अपना प्रतिबिम्ब निहारती रह गयी।...

o o o

चम्पा के राजा श्रीपाल, जन्मजात कामकुमार और कोटिभट सुने जाते थे। अनन्य सुन्दर कामदेव-जैसा उनका रूप था। वे चरमशरीरी थे, और तद्भव मोक्षगामी कहे जाते थे। अन्तिम और उत्कृष्ट था उनका देह-वैभव। और उन अकेले की भुजाओं में, एक कोटि योद्धाओं का बल था। इसी से वे कोटिभट विख्यात थे।

ऐसे ऋद्धिमान् शलाकापुरुष की देह में एकाएक गलित कुष्ठ फूट निकला। और विचित्र दैवयोग था कि उनके प्रियतम संगी, सात सौ सुभट भी देखते-देखते उसी सांघातिक महारोग से ग्रस्त हो गये।

पुष्करवर और प्रभास द्वीपों से दिव्य औषधियाँ मँगायी गयीं। समुद्रों-पार से उस काल के श्रेष्ठ चिकित्सक आये। कई विद्याधरों ने मणि, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र के सारे प्रयोग उन पर आजमा लिये। पर अपने सात सौ सुभटों सहित राजा श्रीपाल का रोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया। सात सौ रोगियों के गलित होते शरीर से रात-दिन झरते लहू और मवाद की दुर्गन्ध में, चम्पा के सुरम्य वनों की सारी सुगन्धें डूब गयीं ?

प्रजा त्राहि माम् कर उठी। आमोदिनी की विलास व वैभव-नगरी चम्पा में मनुष्य का जीवन-धारण असह्य हो उठा। एक ओर तो श्रीपाल-जैसे स्वरूपवान्, प्रजा-वत्सल, प्रतापी राजा के ऐसे दुष्ट रोग से आक्रान्त होने के कारण प्रजा बहुत उदास हो गयी थी। दूसरी ओर चम्पा में मनुष्य का रहना दूभर हो गया था।

...एक दिन, नगर के बाहर, 'मनोगत' नामा चैत्य-उपवन में किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिराज के आगमन का समाचार मिला। इधर से महाराज श्रीपाल अपने सुभटों सहित श्रीगुरु के चरणों की वन्दना को आ पहुँचे। उधर से चम्पा के हजारों प्रजाजन मुनीश्वर के दर्शनों को उमड़ आए। अपने राजा के और अपने परित्राण के लिए लोक-जनों ने मुनि से जिज्ञासा की :

"भगवन्, यह कैसा विपर्यय है ? श्रीपाल-जैसे कामकुमार कोटिभट महापुरुष ऐसे विषम रोग से ग्रस्त हो गये। और उनके साथ उनके सात सौ सुभट भी। बुद्धि काम नहीं करती। क्या कार्य-कारण सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु नहीं ?"

"हे भव्यजनो ! किन्तु वह केवलीगम्य है, बुद्धिगम्य नहीं। कषाय बड़ी सूक्ष्म वस्तु है। सो उससे उपार्जित कर्म-परमाणुओं की गति भी बड़ी कुटिल होती है। मन का छोटा-सा क्षणिक भाव-दुर्भाव कैसे दारुण कर्मपाश से आत्मा को बाँध देगा, कहना कठिन है। देह से परे, देही को जानो। वही

तुम्हारी स्वाधीन सत्ता है। देहाधीन जब तक हो, देह की उपाधियों से निस्तार नहीं !"

"भन्ते, क्या इस व्याधि का कोई प्रतिकार नहीं ? कब हमारे राजा का यह कष्ट कटेगा, और कब हम इस संकट से उबर सकेंगे ? मार्ग-दर्शन करायें, प्रभु !"

"हे भव्यो, अपने ही अर्जित प्रारब्ध को भोगे छुटकारा है। व्याधि का प्रतिकार भी, भीतर के निरुपाधिक आत्म-स्वरूप में रहने से ही सम्भव है। बाहरी निमित्त-उपचार भी, उस भीतरी सत्ता का ही, बहिर्गत परिणाम मात्र है। इस कष्ट की अवधि जानता हूँ, पर कहूँगा नहीं। क्योंकि मेरा वह भविष्य-कथन तुम्हें पराधीन बनाये रखेगा। स्वाधीन आत्म-सत्ता में स्थिर होकर, अपने ही बाँधे कर्मों की इस लीला के साक्षी हो रहो। किसी भी कष्ट का, इससे बड़ा कोई प्रतिकार नहीं... !"

प्रजाजन उदास, निरुत्तर, खामोश हो गये। महाराज श्रीपाल आदि से अन्त तक मौन ही रहे। श्रीगुरु की वाणी सुनकर, सहसा उनके भीतर बोध भास्वर हो उठा। आश्वस्त भाव से श्रीगुरु की पाद-वन्दना कर वे महलों में लौट आये। प्रजा भी आक्रन्द करती हुई, अनाथ भाव से नगर को लौट पड़ी।

...अगले ही दिन महाराज श्रीपाल ने अपनी विधवा राजमाता कुन्दप्रभा देवी से, अपने सुभटों सहित वनवास-प्रयाण की आज्ञा चाही :

"माँ, हमें अब यहाँ से चले जाना चाहिए। हमारी लक्ष-लक्ष प्रजा, हमारी दुःसह देह-दुर्गन्ध से पीड़ित है। सो राजा होकर, अब मेरा यहाँ रहना महापातक होगा। अपने बाँधे वेदनीय कर्मों की यातना को अपने एकान्त में अकेला ही भोगना चाहता हूँ। मेरा दुर्दैव औरों के दुःख का कारण क्यों बने।..."

महारानी ने मोहवश बहुत आक्रन्द-विलाप किया। पुत्र को रोकने के अनेक प्रयास किये। पर कोटिभट श्रीपाल, निर्मम और निश्चल हो रहे। अपने काका वीरदमन को उन्होंने राज्य-भार सौंप दिया। और माँ की

चरण-धूलि लेकर, वे निमिष मात्र में अपने सात सौ सुभटों के साथ, निर्वासन के मार्ग पर निकल पड़े।

कई-कई दिन-रात पद-यात्रा करते हुए, श्रीपाल अपने राज्य की सीमा अतिक्रमण करके निरंजना नदी के तट पर एक घनघोर अरण्य में निवास करने लगे, जिसे 'बृहदारण्य' कहा जाता था। पार्श्ववर्ती गिरि-कन्दराएँ उनका आवास हो गयीं। जंगली फलों के आहार और निरंजना के जलों पर वे निर्वाह करने लगे। बाहर के सारे चिकित्सा-उपचार उन्होंने त्याग दिये। अविचल तितिक्षापूर्वक वे अपनी व्याधिजन्य वेदना को धीर भाव से सहने लगे। अपने में आत्मस्थ हो, अपने बहते व्रणों और गलते अंगों को समक्ष रखकर, वे एकाग्र भाव से उनका साक्षात्कार करने लगे। और विचित्र थे वे सात सौ सुभट भी, जो अपने राजा की स्थितप्रज्ञ चेतना के साथ एकतान हो रहे। अपने-अपने एकान्त में, वे अपने कष्टों के तप में अपने-आपको तपाने लगे।

...एक पिछली रात महाराज श्रीपाल, देह का भान भूलकर, गहन कायोत्सर्ग ध्यान में तल्लीन थे। तभी उन्हें भीतर दिखाई पड़ा : कि उनके कन्दरा-द्वार पर कोई मुकुट-बद्ध राजपुरुष खड़ा है। अपने दोनों हाथों में एक कन्या-रत्न उठाये वह गुहा-द्वार पर प्रतीक्षमान है। श्रीपाल को एक अचूक समाधान और आनन्द की अनुभूति हुई। ध्यान-निवृत्त होने पर उन्हें कुछ देर ऐसा लगता रहा, जैसे उनके सारे व्रण एकदम उपशान्त हो गये हैं : उनके अंग-अंग एक अपूर्व आभा में झलमला रहे हैं। उल्लसित भाव से 'अरिहन्त...अरिहन्त...' उच्चारते हुए वे निर्विकल्प चित्त से अपनी नित्य की दिनचर्या में व्यस्त हो गये।

o o o

अवन्तिराज पहुपाल, अपने कुछ मन्त्रियों को साथ लेकर राजकुमारी मैनासुन्दरी के लिए वर की खोज में निकल पड़े। राजपिता के हृदय को अपनी ही

जाया के स्वाधीन वचन पाल रहे थे। उनका घायल अहंकार अनजाने ही उनके अवचेतन में, प्रतिशोध की विषम वेदना से ग्रस्त था।

अनेक देश, ग्राम, पुर, नगर, पत्तनों और वन-कान्तारों में वे भटकते फिरे। वे यह जाँचने को व्यग्र थे कि आखिर कौन है वह परम पुरुष, मैना का वह नियोगी, जो स्वयं ही सामने आकर खड़ा हो जाएगा। वे संकल्पित थे, कि मैं निमित्त नहीं मिलाऊँगा, कोई प्रयत्न या याचना अपनी ओर से नहीं करूँगा।...देखूँ तो उस मानिनी की आन, कि कैसे उसका वह विलक्षण स्वामी, स्वयं ही सम्मुख आकर उपस्थित होता है।

कई महीनों, कई देशों की खाक छानने के बाद, एक दिन वे एक भीषण अटवी में आ निकले। सहसा ही वे और उनके मन्त्रीगण किसी दुःसह दुर्गन्ध के आक्रमण से परेशान हो गये। कौतूहलवश, आस-पास और दूर-दूर तक वे टोहते फिरे, मगर पता न चल सका कि वह ऐसी सड़ाँध-भरी दुर्गन्ध कहाँ से आ रही है। योजनों की दूरियों में चारों ओर यह निविड़ता से व्याप्त है।

राजा को इस भीषण दुर्गन्धि में भी एक अद्‌भुत आकर्षण की अनुभूति हुई। मानो कि नागों से लिपटे किसी भयावह चन्दन-वन की गन्ध हो। महाराज अपने बावजूद मन्त्र-मुग्ध-से खिंचते ही चले गये, बढ़ते ही चले गये। और एक सवेरे वे कोढ़ियों के इस विजन कान्तार में आ पहुँचे। दूर-दूर तक सैकड़ों कोढ़ी, कहीं वृक्ष तले, तो कहीं किसी शिलातल पर, तो कहीं किसी झाड़ी या कन्दरा में, अपनी-अपनी यातना के एकाकी द्वीप बने बैठे थे। अपने-आपमें सिमटे हुए। अपनी वेदना के आईने में अपना असली चेहरा खोजते हुए। उनके गलित-पलित, भोंतरे अंग-प्रत्यंगों और नाक-नक्शों की विद्रूपता को देखने से ही आँखें इनकार कर देती हैं।

सहसा ही राजा पहुपाल एक गुफा के द्वार पर आ पहुँचे। अगले ही क्षण, एक देवोपम स्वरूपवान् पुरुष सामने आ खड़ा हुआ, जिसके रक्त-पीप से झरते व्रणों, और गलित उँगलियों तथा विकृत आकृति के बावजूद, उसकी देह-प्रभा छुपी नहीं रह पा रही थी। उस कान्तिमान् कोढ़ी ने

सम्बोधन किया :

"स्वागत देवानुप्रियो, दर्शन-लाभ से कृतकृत्य हुआ। आपके शुभ परिचय का प्रत्याशी हूँ।"

"उज्जयिनी के राजा पहुपाल का अभिवादन स्वीकारें। ये मेरे मन्त्रीगण हैं।...आप कौन महर्धिक महापुरुष हैं ? यहाँ कैसे ? ये सब कौन हैं ?"

महाराज श्रीपाल ने संक्षेप में अपनी आपबीती निवेदन कर दी। सुनकर पहुपाल और उनके मन्त्री हक्का-बक्का हो उठे। राजा नम्रशीश सावधान हुए और समाधीत भी। प्रतिशोध का कटु सन्तोष और प्राप्ति का आनन्द वे एक साथ अनुभव करने लगे। बोले :

"आप तो महातपस्वी हैं, आर्य श्रीपाल, और आपके ये संगी भी धन्य हैं। अहोभाग्य, आपके दर्शन हुए।"

"अवन्तिनाथ पहुपाल का वात्सल्य लोक में अतुल्य है। जहाँ मनुष्य झाँकना न चाहेगा वहाँ आप चले आये, हमारी वेदना से विवश आकृष्ट होकर, करुण-कातर होकर। आप धन्य हैं देवानुप्रिय, आप विशिष्ट हैं।"

"आर्य श्रीपाल, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?"

"आप आये, तो प्रभु आये महाराज। और क्या चाहिए।"

"मैं आपसे मिलकर कृतकाम हुआ, कोटिभट। जो चाहें, आज्ञा करें, मेरा सिंहासन आपकी सेवा में प्रस्तुत है।"

"अकेले ही आये हो राजन्...? केवल मन्त्रियों के साथ ?...और कोई नहीं आया ?"

"मैं समझा नहीं, आर्य !"

"मेरी नियोगिनी कहाँ है ?"

"साधु...साधु...आर्य ! वह चिरकाल से आपकी प्रतीक्षा में है।"

"उज्जयिनी की राजबाला से कहना, हम उन्हें याद करते हैं। उन्हें हमारा प्रणाम निवेदन करें।"

"वह तो आपकी अर्पिता है, आर्य श्रीपाल। जनम-जनम की दासी को प्रणाम कैसा ?"

"दासी नहीं, राजन्, स्वामिनी ! वह अपनी स्वामिनी है, इसी से मेरी स्वामिनी है, और आपकी भी...!"

राजा आश्चर्य से विश्रब्ध हो रहे। आनन्द और आक्रोश दोनों से वे यकसाँ विक्षुब्ध थे।

"मैनासुन्दरी का पाणि-ग्रहण स्वीकारें, आर्य। मैं आप ही की खोज में निकला था।"

"मेरी तो उँगलियाँ ही खिर गयीं। पाणि-ग्रहण मैं क्या जानूँ !...पर उस परम सुन्दरी सती के पाणि-पल्लवों को देखना चाहता हूँ !"

"तो आर्य, आज्ञा दें। उज्जयिनी की राजबाला मैनासुन्दरी, अवन्ती का सारा वैभव लेकर, आपके चरणों में शीघ्र उपस्थित होगी।"

मन्त्रीगण राजा के इस भयंकर निश्चय से थर्रा उठे थे। रास्ते में उन्होंने रो-रोकर अपने स्वामी से अनुनय-विनय की, अनेक तरह से तर्क-वितर्क और विरोध करके उनके इस संकल्प को बदलना चाहा, पर वे सफल न हो सके। राजा के भीतर रोष और घायल अपमान का ज्वालागिरि उबल रहा था। पर मैना के कथन का सचोट प्रमाण पाकर वे मन्त्रमोहित-से भी थे। उनकी उत्सुकता और जिज्ञासा की धार तीव्रतर होती जा रही थी। प्रखर सत्य की रोशनी उन्हें आर-पार बींध रही थी।...स्पष्ट ही, क्या यही वह उनकी पुत्री का नियुक्त पति नहीं है ?...राजा और मन्त्रियों के रथ, घूर्णिचक्र के वेग से उज्जयिनी की ओर धावमान थे।

"आओ मैना, चिरंजीवो। तुम्हारा नियोगी पुरुष तुम्हारी प्रतीक्षा में है, निरंजना के महारण्य में। चम्पा का कोढ़ी राजा तुम्हारे पाणि-पल्लव का प्रार्थी है।...मैं वाग्दान कर आया !"

"मैं कृतज्ञ हुई, तात ! आपने अपनी बेटी के योग्य किया। ऐसे पिता की पुत्री होने पर मुझे गर्व है।"

"कोढ़ी से कम कोई तुम्हारा प्रियतम नहीं हो सकता था ! तुम्हारी हठ पूरी हुई। मैं हार गया।"

"हट नहीं, तात, उपादान पूरा हुआ। वह प्रकट हुआ। उसका स्वागत है। और आप क्यों हारेंगे, जब मैंने कोई जीत कभी नहीं चाही। मैंने तो केवल अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निवेदन किया था, जो वस्तु मात्र की है। उसमें मेरी जीत किसी और की हार पर निर्भर नहीं करती।"

"क्षिप्रा के केतकी-कुंजों की मकरन्दिनी मैना कोढ़ी का आलिंगन करेगी ?"

"कोढ़ी अन्तिम नहीं, तात। अन्तिम तो भीतर का पुरुष ही है, और वह कोढ़ से अछूता है। और फिर किस कोढ़ी में कामदेव छुपा है, और किस कामदेव में कोढ़ी छुपा है, इसका निर्णय कौन कर सकता है ?"

"यहाँ तो कोढ़ी प्रत्यक्ष सामने है, मैना ! परोक्ष की कल्पना से क्या लाभ है ?"

"और वह कामदेव नहीं है, इसका क्या निश्चय है ?"

"वह निश्चय तो अब तुम्हीं कर लेना। वह मेरा सरोकार नहीं। तुम्हारी चाह पूरी हुई : अब तुम अपनी जानो।"

"आप निश्चिन्त रहें, तात। आपकी बेटी, आपकी आन को लजाएगी नहीं। इतना ही कहे देती हूँ कि मैना का नियोगी यदि कोढ़ी भी होगा, तो उसे कामकुमार हो जाना पड़ेगा...!"

"तो अपनी हठ पूरी करो, मैनासुन्दरी। कल हम सब निरंजना के बृहदारण्य को प्रस्थान कर जाएँगे...!"

o o o

निरंजना पार का कोढ़ी-कान्तार रातोंरात उत्सव के स्वर्ग में बदल गया। रक्त-पीप झरते सात सौ कोढ़ी, केशरिया वेश में सजे सामन्त हो गये। रुदन-भरे कण्ठों से रानियाँ तथा राज-कन्याएँ विवाह के मंगल-गीत गाने लगीं, और अनेक-विध मंगलाचार को अपने आँसुओं से सींचने लगीं। राज-वाद्यों की रागिनियों और शंख-घण्टा ध्वनियों से, अरण्यों में घिरा सहस्रावधि वर्षों का जड़ अन्धकार चैतन्य होकर अँगड़ाई ले उठा।

वन-फूलों से सज्जित परिणय-वेदी में, अपनी गलित उँगलियों से सौन्दर्य की सम्राज्ञी मैना का पाणिग्रहण करके, महाराज श्रीपाल भीतर-ही-भीतर कृतज्ञता के आँसुओं से गल आये। उनकी मुकुट-मण्डित, राजवेश से सज्जित देह के प्रत्येक अवयव से बहते रक्त-पीप, उनका सुवर्ण-खचित उत्तरीय भिगो रहे थे। नाना सुगन्धित अंगरागों को भेदकर भी उनकी देह-दुर्गन्ध बाहर फूटी पड़ रही थी।

झुकी आँखों, श्रीपाल को जयमाला पहनाकर, मैना उनके चरणों में ढुलक गयी। बरसों के कष्टभोग से पाषाण हो गये श्रीपाल नम्रीभूत हो आये। मैना को थामने को आकुल उनकी गलित बाँह हवा में मूर्तिवत् थमी रह गयी।...

...अरण्य-शिखर पर प्रतिपदा का पाण्डुर, क्षयी चन्द्रमा, चलते-चलते ठिठक गया। उसका क्षयन क्षण-भर को थम गया।

...गुहा-द्वार के आम्र-पल्लव-तोरण तले, आर्य श्रीपाल और मैनासुन्दरी जाने कितनी देर आमने-सामने निस्तब्ध खड़े रह गये। फिर श्रीपाल ने ही उस मौन को भंग किया :

"भगवती...!"

परम अनुकम्पा से उज्ज्वल दो बड़े-बड़े आयत्त नयन उठकर श्रीपाल के विद्रूप चेहरे पर व्याप गये।

"मेरे देवता, मेरे कामदेव...!"

"कामदेव नहीं, कोढ़ी, कल्याणी...!"

"मेरी अभीप्सा को भंग न करो, मेरे देवता। मेरे सपने को तोड़ो नहीं।"

"क्या मैं अपने को नहीं देख रहा, मैना ?...तुम्हें दिखाने योग्य चेहरा मेरे पास नहीं !"

"यह तुम्हारा असली चेहरा नहीं, नाथ।...नहीं, तुम अपने को नहीं देख पा रहे। मेरी आँखों से एक बार अपने को देखो, प्रभु !"

और भरपूर नयनों के नीलोत्पल पसारकर, मैना ने दूर से ही अपने स्वामी को, अविकल अपने आँचल में समेट लिया।...और अपने वल्लभ का हाथ पकड़कर, वह गुफा के अचीन्हे अन्धकार में प्रवेश कर गयी।...

श्रीपाल के व्रणों से रिसते चरणों को, सघन सुगन्धों बसे कुन्तलों की शीतल छाया में, किसी की गीली बरौनियाँ हौले-हौले सहलाने लगीं।

"तुम कौन हो, मैना ?...मेरे भीतर ऐसे समूची चली आयी हो, जैसे अपने सिवा और कोई नहीं है ही नहीं। मेरी ही आत्मा मुझे दुलरा रही है। नहीं तो अन्य कोई यहाँ क्यों आएगा। मानवों से परे है यातना का यह देश...!"

"सच कहते हो, अनन्या एक मैं ही तो हूँ यहाँ। और कोई नहीं, स्वामी। अपने ही स्वरूप से मिलने आयी हूँ। और उसे पाकर भर-भर उठी हूँ। जन्म-जन्मों के मेरे सारे रिक्त भाव और घाव, तुम्हारे इन घावों से भर गये हैं। मैं परिपूरित हुई। मैं पूर्णकाम हुई।..."

"मैना, तुम्हारी हथेलियों के चन्दन-कपूर सहे नहीं जाते। फिर भी अतल में कहीं, कैसा अगाध है यह सुख, कैसा निराकुल। अपने ही भीतर से जैसे सब कुछ पा गया हूँ, बाहर से पाने को अब कुछ नहीं रह गया। ...तुम तो रंच भी अपने से बाहर, अन्य कोई, द्वितीय-पुरुष नहीं लगती, मैना।...सचमुच अनन्या हो तुम !..."

...कुछ देर एक सगर्भ मौन, कसमसाहट के साथ गहराता रहा। फिर एक निवेदित कण्ठ के उच्छ्वास से चुप्पी भंग हुई :

"...फिर यह झिझक कैसी...?...नाथ !"

"मेरे पास बाँहें नहीं, वक्ष नहीं, मैना।...मेरे पास देह नहीं देवी !"

"मेरी बाँहें, मेरा वक्ष, मेरी देह तो है। दूसरी अनावश्यक है स्वामी ! ...इसे अब भी परायी समझ रहे हो !..."

"मेरे अहं को तुम्हीं तोड़ो, और चाहे तो सोहं बना लो। मेरे वश का कुछ भी नहीं...।"

"तो चुप रहो, और मुझे सहो !"

एक अथाह मौन में, तदाकार होने का संघर्ष गहराता रहा।...

"असह्य है यह सुख !...कोढ़ी यह कैसे सहे ?"

"कोढ़ तो मेरे आँचल ने समेट लिये, देवता। अब तो बची है केवल तुम्हारी अहमिका। भ्रम त्यागो, और मेरे पास आओ, मेरे परम पुरुष ! मैं तुम्हें तुम्हारा स्वरूप दिखाऊँगी...!"

...और गुफा का मृण्मय अन्धकार भिदता ही चला गया, उत्तरोत्तर चिन्मय होता ही चला गया—उस महाकाल-रात्रि की निरवच्छिन्न निःशब्दता में।

...बृहदारण्य के सुरम्य पार्वत्य एकान्त में, मैना ने अपने हाथों प्रकृत शिलाखण्डों से एक जिन-चैत्य निर्माण किया। उसमें अपने साथ लायी अर्हत् परमेष्ठी की एक अकृत्रिम रत्न-प्रतिमा उसने प्रतिष्ठित कर दी। प्रभु के सम्मुख, एक निसर्ग चट्टान पर, उसने वन-प्रदेश की नानारंगी माटियों, धातु-द्रवों, शिला-चूर्णों से अपने हाथों सिद्ध-चक्र का महामण्डल चित्रित किया। प्रतिदिन प्रातःवेला में स्नान-गन्ध से पवित्र हो, वह अर्हत् प्रभु का अभिषेक करती, फिर सिद्ध-चक्र की महापूजा करती। नन्दीश्वर व्रत की तपः-साधना करती। फिर भगवान् के अभिषेक का गन्धोदक रत्न-झारी में भरकर, अपने स्वामी के निकट आती। सजल-करुण आँखों की आरती उजालकर, वह अपने आँचल से अपने देवता के घावों को बड़े कोमल जतन से पोंछती। अनन्तर गन्धोदक से उनका व्रणोपचार करती। श्रीपाल आँख मूँदकर निष्कम्प उस प्रक्षालन-सुख में समाधिस्थ हो रहते।

फिर वह अनिन्द्य सुन्दरी एक-एक सुभट के पास जाकर, चन्दन-जल भीगे अंग-लुंछनों से उनके घावों को पोंछकर, अपनी कपूरी अँगुलियों से उनका भी गन्धोदक द्वारा व्रणोपचार करती। तदुपरान्त, बहुत दिन चढ़े, अपनी ही देख-रेख में, प्रासुक पवित्र भोजन बनवाती। फिर सबसे पहले अपने देवता को अपने हाथों से कोलिये देकर भोजन कराती। और अनन्तर उनके सात सौ बन्धुओं को भी अपने हाथों के भोजन-प्रसाद से तृप्त

करती। ब्राह्मी वेला में स्नान-ध्यान से निवृत्त हो, बड़ी भोर पूजा-अर्चा से लगाकर रात सोने तक वह अविश्रान्त और अक्लान्त भाव से उन पीड़ित जनों की परिचर्या में संलग्न रहती।

...एक सप्ताह बीतते न बीतते, महाराज श्रीपाल और उनके बन्धु-बान्धवों के व्रण सूख चले। वे उस अरण्य के नव पल्लवों से प्रफुल्लित हो उठे। और कुछ ही महीनों में वे सब नीरोग, स्वस्थ हो एक नयी देहाभा से दमक उठे। उनकी समूची त्वचा मानो किसी मानुषोत्तर धातु-रस से आप्लावित हो उठी।

"मेरे कामकुमार, अपने रूप को एक बार अपनी आँखों देखो!... पहचानो कि तुम कौन हो ?"

"पहचान रहा हूँ मैना ! तुम प्रत्यक्ष चिदग्नि हो। तुम्हारे सौन्दर्य और प्रीति के परम रसायन का पार नहीं।"

"मेरा वह कहाँ रहा, देवता ! वह तो तुम्हारा ही अपना सौन्दर्य है। मुझे यों कब तक अलगाते रहोगे...?"

"अलगा नहीं रहा, मैना। अपने को मिटा जो नहीं पा रहा हूँ, उसी की वेदना सबसे बड़ी है। तुम्हारा अमृत-कुम्भ पीकर भी, मेरे पुरुष की चरम अहंवासना अभी शान्त नहीं हुई।"

"वह तुम्हारा पौरुष है, मेरे पुरुषोत्तम। जाओ, दिग्विजय करो !... चम्पा के नदीघाट पर मैं तुम्हारे विजय-पोत की प्रतीक्षा करूँगी...।"

o o o

अपने काका वीरदमन से राज्य लौटाने की याचना, श्रीपाल के स्वाधीन पौरुष को नहीं रुची। वे अपने कोटिभट बाहुबल से वसुन्धरा को जीतकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहते थे।

नियोजित शुभ-मुहूर्त में वे मैनासुन्दरी सहित, अपने सात सौ सुभटों के साथ, चम्पा लौट आये। और अगले ही दिन राजमाता की सेवा में मैना

को सौंपकर, महायात्रिक अपनी विजय-यात्रा पर अकेला ही निकल पड़ा। किसी के शत-कोटि आलिंगन उसकी बाहुओं में शक्ति के समुद्र बनकर उमड़ पड़े।

...अपनी बारह वर्ष व्यापी दुर्दान्त साहस-यात्राओं में श्रीपाल ने विजयार्ध और वैताढ्य पर्वतों के अनेक विद्याधरों से नाना सिद्धि-प्रदायिनी विद्याएँ प्राप्त कीं; हंसद्वीप में चिरकाल से बन्द सहस्रकूट चैत्यालय के वज्र-कपाटों को खोलकर वहाँ की राजपुत्री रयनमंजूषा का वरण किया। कौशाम्बी के धवल श्रेष्ठी के व्यापारी-जलपोतों पर महीनों कई प्रदेशों की जलयात्रा करते हुए मार्ग में अनेक सामुद्रिक मगर-मच्छों और डाकुओं को पराजित किया। रयनमंजूषा पर आसक्त चित्त धवल श्रेष्ठी के षड्यन्त्र से समुद्र में फेंक दिये गये। अपराजेय भुजबल और संकल्प-शक्ति से समुद्र-सन्तरण कर, कुंकुम द्वीप में अपने नियोगी समुद्रजयी पुरुष के लिए प्रतीक्षा करती राजकन्या गुणमाला से विवाह किया। फिर धवल श्रेष्ठी के कुचक्रों के चलते वरांग द्वीप में शूली पर चढ़कर भी वधिक के प्रहार से बच निकले, और चित्ररेखा का पाणिग्रहण किया। जिस भी दिशा, भूमि और समुद्र-तट का इस पुरुष-पुंगव ने स्पर्श किया, उसके हर पराक्रम के छोर पर देश-देश की अनुपम सुन्दरी राज-कन्याएँ उसके लिए वरमाला लिये खड़ी थीं। अपने दिग्विजयी पर्यटन में ठौर-ठौर अनाचारियों और दुष्टों का दमन करते हुए अनेक प्रदेशों में अपना कल्याण-राज्य स्थापित करते हुए, आठ हजार रानियों और अतुल्य रत्न-सम्पदा लेकर एक दिन कामकुमार कोटिभट श्रीपाल बड़े उत्सव-समारोह के साथ चम्पा के नदी-घाट पर आ उतरे।

अकलंक श्वेत वसनों से शोभित, मुक्तकेशी, तपोज्ज्वला मैनासुन्दरी ने, सौ-सौ आरतियों के आलोक से अपने दिग्जयी स्वामी का स्वागत किया। श्रीपाल ने अपने सारे विजित वैभव, सहस्रों रानियों और नाना देशों को जयलेखाएँ मैना के चरणों में अर्पित कर दीं।

शुभ समाचार पाकर, अवन्तीश्वर महाराज पहुपाल भी अपना परिकर

लेकर श्रीपाल के स्वागत-समारोह में आ उपस्थित हुए।

"लाल, एक दिन तुम्हारी मैना ने तुमसे बिदा लेते हुए कहा था कि उसका नियोगी यदि कोढ़ी होकर भी आएगा तो उसे कामकुमार हो जाना पड़ेगा। तुम्हारी बेटी ने तुम्हारी आन रख ली। मैंने तुम्हारे वीर्य को लजाया नहीं, मैं कृतार्थ हुई। आशीर्वाद दो कि अपने परम-स्वातन्त्र्य की इस यात्रा के चरम गन्तव्य तक पहुँच सकूँ।"

"बेटी, मेरी लज्जा और अनुताप का अन्त नहीं। मेरे कुल में, मेरे रक्त से जिनेश्वरी जन्मी हो तुम। मेरा ही राज्य क्या, सारे आर्यावर्त की राज्यश्री तुम्हारे चरणों की धूलि होने योग्य नहीं।"

मैनासुन्दरी पिता के चरणों में विनत हो गयी। आँचल से उनकी पदरज पोंछकर, उमड़ती आँखों से अपने भवन में लौट आयी।

o o o

"स्वामी, मैं परिपूरित हुई तुम्हारे भीतर। मैं आत्मजयी हुई तुम्हारे भीतर। सो सर्वजयी हुई। चिरकाल इस स्वार्जित राज्य-लक्ष्मी और सहस्रों रानियों का सुख-भोग करो।...और मैना को अपनी राह जाने की आज्ञा दो...!"

"क्या कह रही हो...तुम ? यह कैसा अनभ्र वज्रपात, मैना ? यह राज्य-श्री, ये रानियाँ तो तुम्हारी दासी होकर आयी हैं। मात्र नियोग पूरा हुआ।...इनमें मेरा सुख-भोग नहीं। इन्हें तुम लायी हो। मैं नहीं...नहीं... नहीं...!"

"इन सबमें मैं एक ही अनेक हुई हूँ, देवता। इन सबमें से मुझे निर्वासित क्यों करते हो ? यह संकोच क्यों, स्पष्टीकरण क्यों ? शेष में तो केवल तुम्हीं हो, एकमेव : केवल मैं ही हूँ, एकमेव। फिर यह द्वैत क्यों आया तुम्हारे मन में...?"

"तो फिर तुम क्यों जा रही, कहाँ जा रही हो...हम सबको छोड़कर ?"

"सो तो मैं स्वयं भी नहीं जानती ! पुकार आयी है, और जाना होगा। छोड़कर नहीं जा रही, तुम सबके साथ तदाकार होकर जा रही हूँ।...जो

महाशक्ति मुझे तुम तक लायी, वही मुझे अज्ञातों के मण्डलों में खींच रही है। अखण्ड मण्डलाकार, अनन्त सिद्ध-चक्र मुझे पुकार रहे हैं। त्रिकालवर्ती सृष्टियाँ मुझे पुकार रही हैं...'माँ !' इस पुकार की अवहेला, तुम्हारी अवहेला होगी : मेरे परम पुरुष का अपमान होगा वह।...मुझे सुनो मेरे भीतर, मुझे समझो मेरे भीतर, और आज्ञा दो...!"

"मैना, तुम्हारे बिना चक्रवर्ती का वैभव, और तीन लोक का रमणीत्व भी श्रीपाल के लिए धूल-माटी है। तुम जहाँ नहीं वहाँ मैं नहीं, यह जान लो।..."

"...तो यथासमय वहीं आ जाओगे, जहाँ मैं जा रही हूँ। वहीं होंगे सदा जहाँ मैं शाश्वत हूँ। ठीक मुहूर्त आने पर तुम्हें पुकारूँगी। तब चले आना : मैं सदा तुम्हारे लिए, सर्वत्र प्रतीक्षा के नयन बनकर रहूँगी। निखिल चराचर इसकी साक्षी देगा।...कभी-कभी एकाकी होकर, दिगन्त व्यापी लोक को निहारना, और मुझे याद करना।...साँसों से तल्लीनतर मुझे उपनिषत् पाओगे...!"

श्रीपाल अपनी अपार विजय-सम्पदा से मण्डित राजमहल के तोरणद्वार में स्तम्भित, प्रश्नायित खड़े रह गये।

मैनासुन्दरी का अंग-अंग सहज फलभार-नम्र कल्पवृक्ष-सा नम्रीभूत था। अलग से झुकना आज उसे अनावश्यक लगा : सो सुमेरु-सी निश्चल, उन्नीत वह खड़ी रही। आज झुके कामकुमार कोटिभट श्रीपाल। परम पुरुष का माथा, सती के वक्षदेश पर बरबस ही ढलक पड़ा। निःशब्द मैना ने वह माथा सूँघ लिया। उन समुद्र-जयी अलकों को अतिशय मार्दव से सहला दिया। ...और उस सूर्यायित ललाट पर एक चुम्बन का तिलक अंकित कर दिया।

...और एकाएक श्रीपाल ने पाया, कि उनका माथा अधर में ढलका रह गया है। कोई वक्षदेश वहाँ नहीं है।...बड़ी भोर की कोहरिल चाँदनी में, एक श्वेत आकृति दूर-दूर चली जा रही थी। देखते-देखते, वह दूरान्तों में कहीं, उदय की द्वाभा हो रही।...

(29 जुलाई, 1973)

अनेकान्त चक्रवर्ती : भगवान् समन्तभद्र

आख्यान कुमार-योगी समन्तभद्र का

विक्रम की दूसरे-तीसरी शताब्दी का भारतवर्ष आँखों के सामने आ खड़ा हुआ है। यह वह युग था, जब आत्म-प्रबुद्ध भारतीय ऋषियों की बोधि को बुद्धि के तर्क ने ललकारा था। जब केवलज्ञान, ब्रह्म-साक्षात्कार और बोधिसत्त्व को तर्क के शाण-पट्ट पर चढ़कर, मनुष्य की युक्ति-संगत भाषा में परिभाषित होने को बाध्य होना पड़ा था। जब व्यक्ति की अन्तर्मुख आत्मानुभूति और विश्वानुभूति, जागृत मानव-समुदाय के मन और बुद्धि का विषय बनने के लिए, अपने एकान्त आत्म-लक्ष्मी ब्रह्म-शिखर से उतरकर, मानव और उसकी भोग्य वस्तु की वास्तविक भाषा में अपना रहस्य खोलने को लाचार हुई थी। जब परोक्ष तत्त्व को, मनुष्य के 'अभी और यहाँ' जीवन का सत्य होने को विवश कर दिया गया था। जब एकान्त अन्तर्मुख आत्मानुभूति को जीवन के प्रतिपल के आचार-व्यवहार, और इष्ट मानव-सम्बन्धों को आधार देने के लिए झँझोड़ा गया था। जब भीतर के केवलज्ञान-सूर्य को ठोस पदार्थ में प्रकाशित देखने के लिए मनुष्य की समस्त चेतना उद्विग्न हो उठी थी।

तब दक्षिणावर्त के एक ब्राह्मण-पुत्र सिद्धसेन दिवाकर ने, कन्या-कुमारी की समुद्र-क्षोभित चट्टान पर खड़े होकर, हिमवान् की ऊर्ध्वालोकित चूड़ाओं को मनुष्य की अनिर्वार बौद्धिक जिज्ञासा का समाधान करने के लिए, अपने तर्क के तूणीर पर प्रमाणित होने को विवश कर दिया था। जिनेश्वरों की

अनादिकालीन सर्वज्ञता को उन्होंने मनुष्य के बुद्धि-मानसिक ज्ञान का विषय बनाया। उस दिन पृथ्वी पर पहली बार मानवीय भाषा में वस्तु-सत्य के निर्णायक समीचीन न्याय-शास्त्र (लॉजिक) का अवतरण हुआ। जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर, प्रमेय (पदार्थ) रूपी कमल को सहस्रों पंखुरियों में खिला देने के लिए विश्व के दिङ्मण्डल में ज्ञान के मार्तण्ड की तरह उद्भासित हुए। 'न्यायावतार' और 'सन्मति-तर्क'-जैसे अप्रतिम न्याय-ग्रन्थ रचकर उन्होंने विशुद्ध तर्क की खरधार तलवार पर वस्तु-सत्य को परखा और प्रमाणित किया।

उस काल की समस्त भारतीय मनीषा तर्कशुद्ध बौद्धिक ज्ञान के इस प्रचण्ड सूर्योदय से सक्रिय हो उठी थी। नागार्जुन, वसुबन्धु, असग और दिङ्नाग-जैसे दुर्दान्त बौद्ध नैयायिकों ने, तथागत की सहज अनुभूतिगम्य बोधि को तर्क की सान पर तराश कर चमकाया। वैदिक परम्परा में 'न्यायवार्तिक'-कार उद्योतकर और 'मीमांसा-श्लोक-वार्तिक'-कार कुमारिल भट्ट ने उपनिषद् के ब्रह्म को हथेली पर रखे आँवले की तरह तद्‌गत ज्ञान का विषय बनाया। समस्त भारतीय प्रज्ञा अन्तश्चैतन्य के अनुभूति-राज्य को, बहिर्मुख वस्तु-राज्य में परखने को बेचैन हो उठी। अन्तःसाक्षात्कारी आत्म-दर्शन, बहिर्मुख बौद्धिक तत्त्वज्ञान में व्यवस्थित होने को मजबूर हुआ। सत्य और तथ्य के, अनुभूति और आचार के समन्वय की अपूर्व दार्शनिक भूमिका उस काल के भारतीय दार्शनिकों ने रची। मानव-इतिहास में यह आत्मज्ञान के वस्तु-विज्ञान होने की दिशा में प्रथम प्रस्थान था।

...उस युग के भारतीय आकाश में एक उद्दण्ड आवाज का गर्जन सुनाई पड़ रहा था। यह आत्म-परिचय की तेजोदृप्त आर्ष वाणी थी।

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायां,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धुढक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ॥

—"मैं आचार्य हूँ। मैं कवि हूँ। मैं वादियों का सम्राट् हूँ। मैं पण्डित हूँ। मैं देवज्ञ हूँ। मैं भिषग् महावैद्य हूँ। मैं मान्त्रिक और तान्त्रिक हूँ। मैं राजाओं की समुद्र-वलयित पृथ्वी की मेखला-कड़ियों का मिलन-तीर्थ हूँ। मैं आज्ञा-सिद्ध हूँ : मैं आदेश दूँ, वह सिद्ध होता है। अरे मैं सिद्ध-सारस्वत हूँ !"

"कांची नगरी में मैं दिगम्बर अवधूत बनकर विचरा। तब मेरा शरीर मल से मलिन था। मैंने लाम्बुश नगर में अपनी पाण्डुर देह पर भस्म धारण की। पुण्ड्र नगरी में मैंने बौद्ध भिक्षुक का वेष धारण किया। दशपुर नगर में मिष्टान्न-भोजी परिव्राजक होकर रहा। वाराणसी में आकर मैंने चन्द्रमा के समान धवल कान्तिमान् शैव तपस्वी का रूप धारण किया। हे राजन्, मैं निर्ग्रन्थ जैन मुनि हूँ। मैं मस्तक को दाँव पर लगाकर चुनौती देता हूँ कि जिसमें शक्ति हो, वह मेरे समक्ष आकर सत्य-निर्णय के लिए शास्त्रार्थ करे।..."

"...मैंने पहले पाटलिपुत्र नगर में वाद-भेरी का ताड़न किया। फिर मालव, सिन्धु, वंगदेश, कांची और विदिशा में वाद की दुन्दुभी बजायी। फिर मैं शूरवीरों और उत्कट विद्यासूरियों से मण्डित करहाटक देश में गया। हे नरपति, मैं सत्य के निर्णयार्थ वाद करने के लिए शार्दूल सिंह की तरह सर्वत्र विचारता हूँ।"...

...यह किसका सिंहनाद है ? कौन है यह परम सत्य का दुर्दान्त जिज्ञासु, निर्णायक ?...

विक्रम की दूसरी शताब्दी का दक्षिण भारत है यह। कावेरी नदी जहाँ समुद्र में मिलती है, उसी संगम-तट पर कदम्ब वंश के पाण्ड्यदेशाधिपति राजा कान्तिवर्मन् का, हरे पत्थर का एक प्राचीन महल खड़ा है। फणिमण्डल के अन्तर्गत उरगपुर के वे एक धर्मात्मा और प्रतापी शासक हैं।

उनका इकलौता बेटा राजकुमार शान्तिवर्मन् अब अठारह वर्ष का हो चला है। जन्मजात विलक्षण मेधावी होने के कारण, राजमहल में रहकर ही उसने शस्त्र और शास्त्र की समीचीन शिक्षा पायी है। पर वह स्वभाव से ही उन्मन है। आस-पास के जगत् की हर चीज उसके मन में तीखा प्रश्न जगाती है। उसका जी रह-रहकर उचाट हो जाता है। विश्व के मूल सत्य को जाने बिना विश्व में उसका मन रम नहीं रहा है।

एक दिन वह अपने महल के कावेरी तटवर्ती वातायन पर खड़ा, दूर दिगन्त में निगाह लगाये था। उरगपुर के बन्दरगाह पर सुदूर देशान्तरों के जहाज आ-जा रहे हैं। कर्म-कोलाहल का अन्त नहीं। उरगपुर जनपद अपार सम्पत्तिशाली है। वह उसका भावी राजा है। उसके चरणों पर द्वीपान्तरों की रत्नराशि लोट रही है। पर इस सबसे उसका जी भरता नहीं। ...किसलिए यह सारा प्रपंच, यातायात ?

...ये पेड़, पहाड़, नदी, समुद्र आज हैं, कल नहीं भी हो सकते हैं। ये क्यों हैं ? इनके होने का क्या प्रयोजन है ?...और मैं कौन हूँ ? मैं हूँ कि नहीं ? यह विश्व सचमुच कोई पदार्थ है या निरी माया ?...क्योंकि देखते-देखते सब-कुछ बिला जाता है।...यहाँ रोग है, बुढ़ापा है, मृत्यु है, बिछोह है। परिवर्तन के इस चक्र में कुछ भी तो थिर नहीं। एक दिन मैं भी न रहूँगा। तब इस जगत् का, जीवन का होना क्या अर्थ रखता है ? क्षण-क्षण जब सब कुछ परिवर्तमान है, तो अपने या जगत् के होने का क्या अर्थ रह जाता है ?...

...इस प्रकार चिन्तन करते हुए, राजपुत्र शान्तिवर्मन् की चेतना एक

गहरे विषाद के भँवर में गोते खाने लगी। देखते-देखते अपनी इयत्ता हाथ से निकल गयी। आँखें धुंधलाने लगीं। सिराती दृष्टि में, बहुत दूर समुद्र में मिलकर निर्वाण पा रही कावेरी के छोर पर उसकी चेतना कुछ टोहने लगी।

...पता नहीं कब वह राजमहल की मर्मरी सीढ़ियाँ उतरकर संगम की ओर बढ़ता ही चला गया। कब नदी समुद्र हो गयी, भान न रहा। अन्तर की अराजक वेदना से आक्रान्त और बेचैन वह दूर-दूर भटकता चला गया।

...एकाएक उसने अपने को एक निर्जन-निघाट समुद्र-तट पर अकेले खड़ा पाया। वेला में लवंग और एला की लताएँ पुंगी वृक्षों से लिपटी हुई हवा में लहरा रही थीं। और उनके अन्तराल में उसे दीखा कि एक उदग्र पहाड़ी की चट्टान पर कोई कृष्ण-नील दिगम्बर पुरुष, पद्मासन में ध्यानलीन विराजमान हैं। उनके तेजस्वी मुख-मण्डल से अपूर्व शान्ति का आभावलय प्रसारित हो रहा है।

कोमल-किशोर सुन्दर राजपुत्र को समक्ष पाकर, योगी बाहर की ओर उन्मुख हुए। कुमार के हृदय में जन्मान्तरों की संचित कोई अपूर्व प्रीति उमड़ आयी। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। उसकी चिर अनाथ भटकी चेतना को जैसे किनारा दिखाई पड़ गया। वह योगी के पाद-प्रान्त में लोटकर रुदन में फूट पड़ा। योगी की समाधि टूटी। वे वाक्‌मान हुए। कुमार उठकर जानुओं के बल बैठ उत्सुक नेत्रों से उनकी वाणी सुनने लगा :

"आयुष्मान् ! आ गये...? तुम प्रतीक्षित थे। पूछ रहे हो—मैं हूँ कि नहीं, विश्व है कि नहीं ? तो सुनो, कौन है यह जो देख रहा है, जान रहा है, पूछ रहा है ? यह समुद्र, यह नदी, ये वृक्ष, लताएँ, जीव-जन्तु, मनुष्य—सब परिवर्तन के चक्र में बार-बार उठ रहे हैं, मिट रहे हैं। फिर भी ये सदा थे, सदा हैं, सदा रहेंगे। जो बदल रहा है, वह केवल पर्याय है। जो इनमें अक्षुण्ण है, वह सत् तत्त्व है। केवल पर्याय का परिवर्तन देख व्याकुल हो गये ? पदार्थ को समग्र देखो, समग्र जानो। वह एकान्त नहीं,

अनेकान्त है। सो वह अनन्त है। तुम भी अनन्त हो। विश्व भी अनन्त है। अनन्त में अन्त कहाँ, विनाश कहाँ, मृत्यु कहाँ ? मृत्यु और विनाश केवल बीच की अवस्था मात्र हैं।...पदार्थ का नाश नहीं, सो उसके द्रष्टा तुम्हारे आत्मतत्त्व का भी नाश नहीं...

"...उसे जानो, जो यह सब देखता है, जानता है। वही तुम हो। अपने चरम-परम स्वरूप को पहचानो।...सब रहस्य हस्तामलकवत् खुल जाएगा...!"

सुनते-सुनते कुमार शान्तिवर्मन् उद्बुद्ध हो उठे। भीतर शान्ति का एक अजस्र स्रोत खुल पड़ा। और वे जैसे एक गहरे सुख के समुद्र में निमज्जित हो गये।...

...बहुत देर बाद, जाने कब बहिर्मुख होने पर उन्होंने पाया कि वे स्वयं भी ठीक उन योगिराज की तरह ही नग्न, निर्ग्रन्थ स्वरूप में, उनके चरणों में नतमाथ हैं।

श्रीगुरु का नाम वे जिज्ञासा करके भी न जान पाये। उसी समुद्र-तटवर्ती पुंगीवन में, कई मास कायोत्सर्ग की दुर्द्धर्ष तपस्या में लीन होकर, वे वस्तु-दर्शन की एक विचित्र पारगामी, दिव्य दृष्टि से सम्पन्न हो उठे। तब श्रीगुरु का आदेश पाकर वे दक्षिणावर्त के जनपदों में विहार करते हुए, लोक में परम सुखदायक निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवचन करने लगे।

...एक दिन सहसा ही उन्हें अनुभव हुआ कि उनके नाभि-केन्द्र में दुर्दान्त जठराग्नि धायँ-धायँ सुलग उठी है। एक अन्तहीन क्षुधा से सारा प्राण व्याकुल हो उठा है। मात्र 'पाणि-पात्र' आहार के कुछ निवालों से यह क्षुधा कैसे शान्त होती। आहार उदर में पहुँचते ही भस्म हो जाता है। प्राण में हाहाकारी भूख की शत-सहस्र ज्वालाएँ नागिनों-सी फुँफकार उठती हैं। कोमल कुमार-योगी को लगा कि उनका समस्त चैतन्य एक दारुण जड़त्व से आक्रान्त होता जा रहा है।

...श्रमण-चर्या में व्याघात उत्पन्न हो गया। वे उसकी ग्लानि से विक्षुब्ध होकर आत्मघात करने को उद्यत हुए।...सहसा ही उन्हें अपने श्रीगुरु का

स्मरण हो आया। सो बड़ी कठिनाई से यात्रा करते, गिरते-पड़ते वे किसी तरह श्रीगुरु के चरणों में आ पहुँचे। रुदन-कातर होकर उन्होंने श्रीचरणों में अपनी व्यथा का निवेदन किया। उत्तर में सुनाई पड़ा :

"अरे क्यों भयभीत होता है, वत्स ! यह वेदना असाधारण है। यह तुझे कृत-कृत्य करने आयी है। आत्मा की कोई उच्चतर भूमिका इसमें से खुलेगी। आप्त-स्वरूप के साक्षात्कार का महाद्वार बनेगी तेरी यह वेदना। तुझे भस्मक व्याधि हुई है। समस्त ब्रह्माण्ड का आहरण करने की महाक्षुधा जागी है तेरे मूलाधार में। ब्रह्माण्ड को आत्मसात् करके ही यह चैन लेगी। अदम्य है यह महाशक्ति कुण्डलिनी ! राह-राह भटकाकर यह तुझे विचित्र अनुभवों से सम्पन्न करेगी। यथास्थान पहुँचाकर, एक दिन यह तुझे दिव्य नैवेद्य से तृप्त करेगी। उस दिन यह क्षुधा-तृषा से परे, तेरे भीतर, तेरे ही स्वाधीन आप्तकाम अमृत का स्रोत मुक्त कर देगी। अरे जा रे जा, निर्भय होकर, निर्द्वन्द्व विचरण कर...!"

"भगवन्, इस बुभुक्षा को लेकर, श्रमण-चर्या कैसे सम्भव है ? अपने महाव्रत से च्युत होने से तो मृत्यु भली। नहीं...नहीं भन्ते, दिगम्बर मुद्रा, और यह सर्वग्रासी बुभुक्षा साथ नहीं चल सकते। मुझे सल्लेखना धारण कर प्राण-त्याग की अनुमति प्रदान करें, गुरुदेव...!"

"छिः-छिः, ऐसी भयार्त वाणी दिगम्बर सिंह को शोभा नहीं देती। मैंने तुझे समन्तभद्र कहकर सम्बोधित किया है, सो क्या भीरु आत्मघात करने के लिए ? जगत् के सर्व मंगलों का पुंजीभूत अभ्युदय है तू, समन्तभद्र !

"तू नहीं जानता समन्तभद्र, तेरा जीवन वर्तमान लोक की महामूल्यवान् सम्पदा है। तेरे मुख से जिनेश्वरों की कैवल्य सरस्वती अपूर्व स्तुतिगानों में उच्चरित होगी। अपने काल में तू विश्व-तत्त्व और विश्वधर्म का अप्रतिम द्रष्टा और प्रवक्ता होगा। इस कलिकाल में तू सर्वज्ञ तीर्थंकरों का एक अजेय अनुशास्ता होकर विचरण करेगा...

और सुन रे आयुष्मान्, वादी-प्रतिवादियों के अहंकारी एकान्तवाद से, लोक की ज्ञानदृष्टि आज घोर अन्धकार से आच्छन्न हो गयी है। मनुष्य

का तारनहार धर्म ही स्वयं आज उसका मारनहार होकर आर्यावर्त में हिंसा का उलंग ताण्डव-नृत्य कर रहा है। तेरी अनेकान्तिनी सरस्वती के चरणों में विश्वम्भरा माँ अहिंसा साक्षात् रूप-परिग्रह करेगी। उनकी गोद में आर्यावर्त के कोटि-कोटि जन-मानव और तिर्यंच प्राणी तक परम अभय और सत्य-ज्ञान की निर्मल दृष्टि प्राप्त करेंगे...!"

"लेकिन गुरुनाथ, इस आपत्काल में महाव्रती मुनिचर्या का निर्वाह कैसे हो...?"

"अरे त्याग दे रे यह वेष ! आपद्धर्म का यही विधान है। अरे दिगम्बर, तू वेष का बन्धन पालने के लिए हुआ है, कि सारे परिग्रहों के बन्धन काट देने के लिए हुआ है ? समन्तभद्र की आत्म-विभा वेष से ऊपर है। कोई भी बाह्य वेष उसकी अन्तस्थ निर्ग्रन्थ ज्योति को मलिन और आच्छन्न नहीं कर सकता। ओ रे आयुष्मान्, तू तो परम अवधूतेश्वर भगवान् आदिनाथ का वंशज है। विधि-निषेध से परे, तेरे भीतर परमहंस अरिहन्त की ज्योति झलमला रही है। सारी वर्जनाओं का विकल्प त्याग कर, अपने स्वतन्त्र आत्म-द्रव्य के परिणमन में, तू निर्बन्ध विचरण कर, समन्तभद्र। अपनी आत्मस्थिति और देहस्थिति के वर्तमान परिणमन पर एकाग्र दृष्टि रखकर तू द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुरूप निर्ग्रन्थ और निर्द्वन्द्व चर्या कर। जा रे अवधूत जा, अपनी महावेदना के पथ पर अकुण्ठ प्रस्थान कर। जहाँ भी तेरी भस्मक व्याधि का शामक परिपूर्ण भोजन तुझे मिले, उसे तू सहर्ष अंगीकार कर।...जहाँ तेरा माथा झुकेगा, वहीं अरिहन्त प्रकट हो उठेंगे। आयुष्मान्, तू सर्वत्र जयवन्त हो...!"

श्रीगुरु की वाणी अमोघ मन्त्र के समान समन्तभद्र के रक्त में, एक पराक्रान्त शक्ति की तरह संचारित हो चली। श्रीगुरु-भगवान् का पादवन्दन कर वे अपने क्षुधाजय के मार्ग पर, वर्जनाहीन, कुण्ठाहीन भाव से प्रस्थान कर गये।...

अपने श्रीगुरुपीठ जिस कांचीनगर में समन्तभद्र ने प्रथम बार कमण्डलु उठाकर भिक्षाटन किया था, उसे सजल आँखों से प्रणाम कर, वे अपने अज्ञात संघर्षों की राह पर चल पड़े। अनेक देश, नगर, ग्राम, नदी-नद, पर्वत पार करते हुए वे उत्तरावर्त के पुण्ड्र नगर में आ पहुँचे। वहाँ बौद्धों की एक विख्यात दानशाला थी। हजारों भिक्षु वहाँ प्रतिदिन आहारदान और आश्रय पाते थे।

श्रीगुरु के निर्देशानुसार, समन्तभद्र अपने आत्म-स्वरूप में अविचल रहकर, अपनी बाहरी चर्या के लिए, अपने भीतर के अन्तर-देवता से ही अचूक आदेश पाते थे। आदेश मिला कि : "बौद्ध भिक्षु का वेष धारण कर। काषाय चीवर पहन, कमण्डलु उठाकर, इस बौद्ध विहार में भिक्षा ग्रहण कर, बौद्धचर्या में रहकर बौद्ध की सीमा जान !"

तत्कालीन समस्त धर्म-वाङ्मयों में पारंगत थे कुमार-योगी समन्तभद्र। भिक्षुओं के बीच धाराप्रवाह बौद्धागमों को उच्चरित करते हुए, वे उस दानशाला के आहार से अपनी अन्तहीन बुभुक्षा शान्त करने का प्रयत्न करने लगे। पर इस भोजन के स्वाद में अपनी उद्दिष्ट तृप्ति उन्हें नहीं मिली। जाने क्यों भावहीन, रसहीन लगा उन्हें यह एकान्त क्षणिकवादी, दुःखवादी बौद्ध भोजन। उनकी चेतना उससे भावित और रसाप्लुत न हो सकी। नहीं...नहीं, उनकी ब्रह्माण्ड-अभीप्सुक क्षुधा इस एकांगी आहार से तृप्त न हो सकेगी।...

...सो एक दिन फिर निकल पड़ा अवधूत, बौद्ध वेष त्यागकर, अपनी क्षुधा-शान्ति के पथ पर। भूख की दुर्दम्य ज्वाला में जलते, असह्य यातनाएँ झेलते, वह मालव-जनपद के दशपुर नगर में जा पहुँचा। वहाँ शिवना नदी के तट पर उसने भागवत वैष्णवों का एक विशाल मठ देखा। भागवत सम्प्रदाय के साधुओं को वहाँ वैष्णव भक्तजन हर दिन उत्तम मिष्टान्न भोजन प्रदान करते थे। सर्वतोभावी समन्तभद्र सहज ही वैष्णव भक्ति-भाव

से अनुभावित हो गये। पुण्डरीक तिलक, तुलसी-माला और उज्ज्वल भागवत वेष धारण कर वे मठ में निवास करने लगे। अपने अन्तस्थ जिनेश्वर के अनन्तशायी महाविष्णु स्वरूप का आराधन करते हुए, वे निर्विकल्प और निरंजन चित्त से, वैकुण्ठपति परमेश्वर के वीतराग आत्मस्थ विग्रह का स्तुतिगान करने लगे।

...उन्हें प्रतीति हुई कि इस श्रमण-चर्या में अनेकान्त का सहस्रदल कमल उनके भीतर नाना भावों से भावित होकर अधिकाधिक विकसित हो रहा है। मत-सम्प्रदाय की भेद-ग्रन्थियाँ खुल रही हैं। हृदय एक विरोधी प्रेम के रसायन से आप्लावित हो रहा है। एक ही सच्चिदानन्द परमात्मा की वह अनेकान्तिनी लीला देखकर, वे एक विलक्षण और अभूतपूर्व उद्बोधन अनुभव करने लगे।

भागवतों के यहाँ मोहनभोग मिष्टान्नों का पार नहीं। दूध, घी, खीर, मलाई की नदियाँ बहती हैं। पर यह एकान्त मधुर भगवद्-प्रसाद भी उनकी सर्वतोमुखी भूख को शान्त न कर सका। पगतलियों में फिर चंक्रमण-चक्र चंचल हो उठे। एक सन्ध्या की आरती-वेला में, घण्टा-शंखनाद की तुमुल ध्वनियों के बीच, अपने भीतर के परम विष्णु आत्मदेवता के चरणों में उनके आँसू अविश्रान्त बहने लगे। उचाट, आरत होकर उन्होंने पुण्डरीक और तुलसी-माला का वैष्णव वेष त्याग दिया, और अन्धकार से घिरती प्रदोष वेला में वह परिव्राजक उत्तरापथ की दिशा में आगे कूच कर गया।

...अन्तर में भगवान् आदिनाथ के कैलास-शृंग से, जैसे एक अनिर्वार पुकार सुनाई पड़ रही थी। उसी के उद्दाम वेग में समन्तभद्र देहभान भूलकर, अपने अज्ञात पथ पर धावमान थे। महीनों यात्रा करने के बाद, दुरतिक्रम्य विन्ध्याचल को पार करके गंगा तटवर्ती वाराणसी नगरी में आ पहुँचे। मन-ही-मन वे जान रहे थे कि वह विश्वनाथ महादेव और भगवती अन्नपूर्णा का लोक-विख्यात तीर्थ-नगर है।

वहाँ उन्होंने एक शैव गृहपति को, अपने सद्योरचित शिव-महिम्न स्तोत्र का गान सुनाकर वशीभूत कर लिया। प्रसन्न होकर श्रेष्ठी ने उन्हें शैव

वेष के सारे उपकरण प्रदान किये। तत्काल गंगा-तट पर पहुँचकर समन्तभद्र ने अपनी आरूढ़ देह पर भस्म-लेपन किया। ललाट पर भव्य त्रिपुण्ड्र तिलक और भ्रूमध्य में कुंकुम-टीका धारण किया। गले में रुद्राक्ष माला, बाहुओं और कलाइयों पर रुद्राक्ष के वलय, और सुवर्णिम काषाय वेष में वे सुसज्जित हो लिये। एक हाथ में चमचमाता हुआ प्रकाण्ड त्रिशूल और दूसरे हाथ में कमण्डलु धारण किया। सर्वदाहक भस्मक व्याधि से पीड़ित होते हुए भी इस 'जितानंग और जितक्रोध' कुमार-योगी की देहप्रभा जरा भी मन्द न हो सकी थी। सो हिमोज्ज्वल देह, और भव्य तेजस्वी मुख-मण्डल पर यह शैव शृंगार धारण किये, शाम्भवी मुद्रा के साथ, वे साक्षात् महेश्वर की तरह वाराणसी के राजमार्गों पर विचरते दिखाई पड़े। लोग मुग्ध, चकित और श्रद्धा-विगलित होकर उनके चरणों में साष्टांग प्रणिपात करने लगे। 'कल्याणमस्तु' कहकर वीतराग भाव से भुवनमोहन भोलानाथ आगे बढ़ जाते।

...उस सन्ध्या में विश्वनाथ मन्दिर के तोरण-गवाक्ष में आरती-वेला का प्रचण्ड दुन्दुभि-घोष हो रहा था। भेरी, घण्टा, शंख और झाँझ-मँजीरों की समवेत ध्वनि में समस्त पुरजनों के प्राण एकतान होकर, एक धारा में प्रवाहित हो रहे थे।

अद्भुत भाववाही और तल्लीन था, यह अगुरु-चन्दन और गन्धपुष्पों की सौरभ से व्याकुल, पवित्र वातावरण। समन्तभद्र मन्दिर की सीढ़ियों के सामने एक ऊँचे चबूतरे पर खड़े होकर, स्तब्ध भाव से, दूर गर्भगृह में उठ रही सहस्रदीप आरती का दिव्य दृश्य देखते रहे। देव-प्रकोष्ठ की उस उज्ज्वल आलोक-प्रभा में उन्हें अपने ही भीतर के सच्चिदानन्द योगीश्वर की एक अद्भुत परमहंस भावमूर्ति विग्रह धारण करती दिखाई पड़ी। उनके हृदय-कमल में से आपोआप ही मन्त्रोच्चार उठने लगा : 'शिवोऽहं... शिवोऽहं...शिवोऽहं !' न जाने कब, एक गहन आत्मभाव की समाधि में निमग्न होकर कायोत्सर्ग में तल्लीन हो गये।

इधर आरती समाप्त होने पर पुजारी ने मन्दिर के द्वार पर शिवप्रसाद

के मोदकों से भरे हुए कई बड़े-बड़े थाल लाकर सजा दिये। प्रसादकामियों की विपुल भीड़ उमड़ पड़ी। सहसा ही कोलाहल से समन्तभद्र की ध्यान-तन्द्रा टूटी। वे बहिर्मुख होकर चुपचाप, अचंचल भाव से यह दृश्य देखते रहे। प्रसादार्थियों की भीड़ छँटने पर पुजारी की दृष्टि जो समन्तभद्र पर टिकी, सो टिकी ही रह गयी। भक्ति-भावित हो उन्होंने सम्बोधन किया :

'भगवन्' प्रसाद ग्रहण नहीं करेंगे ?'

''शिवोऽहं...शिवोऽहं...शिवोऽहं' कहते हुए समन्तभद्र ने भावित मधुर कण्ठ से स्तुति गान किया :

'दृश्यादृश्यप्रभूतवाहनकरी ब्रह्माण्डभाण्डोदरी,
लीलानाटकसूत्रभेदनकरी विज्ञानदीपाङ्कुरी।
श्रीविश्वेशमनःप्रसादकरी काशीपुराधीश्वरी,
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥'

और फिर 'शिवोऽहं...शिवोऽहं...' उच्चरित करते हुए महेश्वर-मूर्ति समन्तभद्र पुजारी की ओर बढ़ आये। बोले कि :

'आयुष्यमान्, सर्वभूतों पर कृपा करके भूतभावन भगवान् विश्वनाथ समग्र और अखण्ड नैवेद्य ग्रहण करने को उत्कण्ठित हुए हैं ! एक महामोदक ये नव दिन तक निःशेष प्राशन करेंगे। प्रसाद-मोदकों के थाल अलग लगेंगे। विश्वनाथ के इस मन्दिर में अपूर्व होगा यह अनुष्ठान, जब पहली बार महेश्वर, मनुष्य के अर्पित नैवेद्य को, अपने पिण्ड में उदरस्थ करेंगे।...जय भोलानाथ...जय-भोलानाथ...

'अनुसरण करो आयुष्यमान् ! शिवोऽहं...शिवोऽहं...शिवोऽहं...।'

और खटाखट पादुकाएँ खड़खड़ाते हुए और त्रिशूल टेकते हुए समन्तभद्र निःशंक मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़कर सर्वभूत-भावन शाम्भवी भंगिमा के साथ शिवालय के गर्भगृह की ओर बढ़ गये। पुजारी मन्त्रमोहित-सा, आदेश का पालन करता हुआ, उनका अनुसरण करने लगा।

निर्ग्रन्थ गौरव के साथ, महालिंग के सम्मुख, पूजासन पर आरूढ़ हो समन्तभद्र ने आदेश दिया :

"आयुष्यमान्, वाराणसीपति महाराज शिवकोटि से जाकर कहो कि इसी क्षण से प्रति रात्रि विश्वेश्वर, द्राक्षा-मेवा-केशरयुक्त पर्वताकार महामोदक का परिपूर्ण भोग ग्रहण करेंगे। जानो कि मेरे मुख से वही बोल रहे हैं। अवलिम्ब आयोजन हो। मुहूर्त नहीं टलना है। मध्यरात्रि के मंगल-मुहूर्त में आज ही रात आदिनाथ महादेव यह अनुग्रह आरम्भ कर देंगे। मन्दिर में और कोई न रह सकेगा। कपाट भीतर से मुद्रित हो जाएँगे।"

...पुजारी के मुख से यह प्रसंग और प्रस्ताव सुनकर महाराज शिवकोटि स्तम्भित हो रहे। उन्हें अनायास प्रत्यय हो गया कि निश्चय ही साक्षात् विश्वनाथ मानव-देह में पिण्ड-ग्रहण करने आये हैं।...विद्युद्वेग से राजाज्ञा का पालन हुआ। और ठीक मध्यरात्रि के शुभ लग्न में एक प्रकाण्ड केशर-मेवा-सुवासित मधु-गोलक चाँदी के महाथाल में प्रस्तुत हुआ। समन्तभद्र ने समाधि-मुद्रा से किंचित् पलक उठाकर पुजारियों और रक्षकों को चले जाने को इंगित कर दिया। फिर उठकर मन्दिर के कपाट चारों ओर से मुद्रित कर लिये।

'शिवोऽहं...शिवोऽहं...' उनके प्रत्येक श्वास में उच्छ्वसित हो रहा था। निबिड़ पुष्प-सौरभ से देव-कक्ष व्याकुल था। सुवर्ण के विशाल दीपाधार में सौ-सौ दीप-शिखाएँ अकम्प लौ से बल रही थीं। धूपबत्तियों की अगुरु-कस्तूरी सुगन्ध में से एक अनाहत नीरवता प्रसारित हो रही थी।...

समन्तभद्र ने चहुँओर निहारा। दीवारों और गुम्बद में से जैसे ध्वन्यायमान हुआ : 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' : 'स्वयं शिवरूप होकर शिव का भजन-पूजन कर !' और उनके रोम-रोम में संचरित था : 'शिवोऽहं...शिवोऽहं ...शिवोऽहं...!'

...उन्हें साक्षात्कार हुआ कि यह अनादिकाल का स्वयम्भू शिवलिंग ही स्वयं ब्रह्माण्ड है। यह महामधु-गोलक ही स्वयं ब्रह्माण्ड है। विश्व-तत्त्व ने इनमें रूप-परिग्रह किया है। सामने ऊपर की रत्नजटित आलय में विराजमान हैं जगदम्बा पार्वती।...अरे मेरी भगवती आत्मा ही तो उनमें

अनन्त अनुकम्पा, करुणा, अहिंसा, प्रेम प्रवाहित करती हुई प्रकट हुई हैं। वे यावत् चराचर प्राणिमात्र की अभय-शरणदायिनी माता हैं। यही तो आद्याशक्ति आत्म-तत्त्व हैं। इनके पादप्रान्त में महालिंगाधिष्ठित जो विश्वनाथ बैठे हैं, यही विश्व-तत्त्व हैं। भगवती के भामण्डल में अनेकान्तिनी पदार्थ-प्रभा का सूर्य उद्योतमान है। संवित्-रूपा भगवती में वस्तु मात्र के सारे भाव समन्वित रूप से विग्रहीत हुए हैं।...

...धूर्जटी के जटाजाल में भगवती अहिंसा के चरणों से करुणा की गंगा अजस्र प्रवाहित है। और उस पर सर्वआप्यायनकारी विश्वधर्म का शीतल चन्द्रोदय हुआ है।...

'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्...!!!'—फिर स्वयम्भू देवाधिदेव के लिंग में से उद्बोधन सुनाई पड़ा।...''अरे ओ कुमार-योगी, निर्ग्रन्थ होकर मुझे अपने पिण्ड में उदरस्थ कर। द्वैत का विकल्प त्याग, और मुझे पहचान : मैं ही तू है...शिवोऽहं...शिवोऽहं ! अरे शिव-स्वरूप होकर, शिव का यजन कर, भजन कर, भोजन कर। तेरी महाव्याधि का एक मात्र शामक मैं हूँ।... मैं, जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की बुभुक्षा और भोजन एक साथ हूँ। यह महामोदक भी मेरा ही ब्रह्माण्डीय विग्रह है। अविलम्ब तू इसे ग्रहण कर, और मद्रूप, तद्रूप, चिद्रूप हो जा रे समन्तभद्र !...शिवोऽहं...शिवोऽहं... शिवोऽहं...!''

समन्तभद्र गहन भाव-समुद्र में डूब गये। कविकल्प वे आगे बढ़े। ...सहसा ही लिंगासीन विश्वनाथ ने उन्हें अपनी गोद में धारण कर लिया। और स्वयं शिव-स्वरूप होकर समन्तभद्र वह महामधुगोलक प्राशन करने लगे।...अपूर्व तृप्तिकर है इसका स्वाद। परम शामक है इसकी माधुरी। द्रव्य के अनन्त गुण और पर्याय मानो इसमें एक साथ ही आस्वादित हो रहे हैं। इस भोजन-प्रक्रिया में सहज ही निखिल का अवबोधन हो रहा है। और निःशेष मधुगोलक उदरस्थ कर वे निर्विकल्प ध्यान-समाधि में आत्मस्थ हो गये।

...नौ दिन तक यह अनुष्ठान अबाधित चलता रहा। समन्तभद्र परिपूर्ण

तृप्ति लाभ कर स्वस्थ हो गये। उन्हें कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे सर्वकाल के लिए क्षुधा-जय हो गया।

दसवें दिन प्रातःकाल महामधुगोलक का नैवेद्य, अछूता और अखण्ड प्रसाद होने के लिए, मन्दिर-द्वार पर ला रखा गया।...एक ब्रह्माण्ड सहस्रों लड्डुओं में बँटकर जन-जन के हाथों में पहुँच गया। राजा शिवकोटि स्वयं पालकी पर चढ़कर आये और विश्वेश्वर के स्वयं शिव-स्वरूप महायाजक का दर्शन कर वे कृतकृत्य हो गये। समन्तभद्र ने उन्हें आशीर्वाद दिया : "सत्य लाभ करो आयुष्यमान् !"

o o o

धर्म के मर्म से अनभिज्ञ, एक अन्ध साम्प्रदायिक युवक कुटिल विद्वेष से प्रेरित होकर गत नौ दिनों में हर रात चुपचाप आकर मन्दिर में छुप रहता था। उसने देखा था कि समन्तभद्र स्वयं लिंगासीन होकर निःशेष महामोदक भक्षण कर जाते हैं। शिवभाव से भावित हुए बिना वह इस निगूढ़ शिवलीला का रहस्य समझने में असमर्थ था। सो उसने द्विष्ट होकर यही अर्थ लगाया कि समन्तभद्र अब तृप्त हो गये हैं, सो महामोदक को प्रसाद बनाकर गौरव ले रहे हैं। उसने राजा को जाकर यह तथ्य बताया, और कहा कि यह कोई शिवद्रोही, अन्य धर्मावलम्बी, भस्मक व्याधि से पीड़ित बटोही जान पड़ता है। धूर्त और प्रवंचक इस बुभुक्षु ने शिव को नैवेद्य ग्रहण कराने का ढोंग रचकर स्वयं अपनी उदरपूर्ति की है। बात सटीक बैठी। भोला राजा बहकावे में आ गया। राजाज्ञा हुई : "आगन्तुक नवयाजक की परीक्षा ली जाए। वह राजा और समस्त लोकजन के समक्ष भगवान् विश्वनाथ का वन्दन करे, उनके चरणों में साष्टांग प्रणिपात करे।...नहीं तो उसका शिरच्छेद कर दिया जाए...!"

...सुनकर समन्तभद्र तपाक् से तेजोमण्डल विस्तारित करते हुए राज-दरबार में आ उपस्थित हुए। बोले कि :

"राजन्, निश्चय ही समन्तभद्र विश्वनाथ का वन्दन करेगा ! पर उसकी वन्दना भी साधारण नहीं अपूर्व होगी। विस्फोटक होगी !...उसके समक्ष एकान्त पिण्ड का विस्फोटन कर अनेकान्त ब्रह्मज्योति फूट निकलेगी। मेरे आवाहन पर पिण्डीकृत महादेव में से ब्रह्माण्डपति देवाधिदेव चन्द्रमौलीश्वर स्वयं प्रकट होंगे।...सावधान राजन्, जो व्यवस्था चाहें, कर लें। विस्फोटक होगा मेरा वन्दन...!"

"तथास्तु आर्य समन्तभद्र ! हम तुम्हारी वन्दना का चमत्कार देखना चाहते हैं।"

वाराणसी के हज़ारों नर-नारी का ठट विश्वनाथ मन्दिर में जमा है। महाराज शिवकोटि, उनके पण्डित और याजक-पुजारियों का मण्डल, परीक्षक और साक्षी होकर महालिंग को घेरे हुए है।

सम्मुख, निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप में कुमार-योगी समन्तभद्र एक अद्भुत शान्ति की प्रभा विकीर्ण करते हुए कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन खड़े हुए हैं। उनके दोनों ओर दो सैनिक नंगी तलवारें ताने खड़े हैं, कि यदि वे वन्दन न कर पायें, तो वहीं उनका शिरच्छेद कर दिया जाए।

...समन्तभद्र ने गम्भीर स्वर में उच्चरित किया : "शिवोऽहं...शिवोऽहं ...शिवोऽहं...!" और मेघ-मन्द्र कण्ठ-ध्वनि से वे देवाधिदेव आदिनाथ वृषभेश्वर के स्वयम्भू ज्योतिर्लिंग को लक्ष्य कर स्तोत्रगान करने लगे—

"स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा,
विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः।

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्,
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः,
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ॥"

...सुनकर पण्डित-मण्डली भीतर-भीतर खलबलाने लगी : "अरे, यह

तो कोई जैन श्रमणक जान पड़ता है।...प्रवंचक...धूर्त !...शिरच्छेद हो इसका...!"...किन्तु राजा शिवकोटि के कान शब्द नहीं सुन रहे थे; उनका हृदय मर्म से भावित हो रहा था। वे मुग्ध और तन्मय होकर, योगी की उस सोऽहं-भाविनी वन्दना की मुद्रा के साथ तदाकार हो गये थे।...सो पण्डित-मण्डली का क्षोभ-कोलाहल भी उससे उत्तरोत्तर दबता चला गया। सात तीर्थंकरों की स्तुति समाप्त कर समन्तभद्र आठवें तीर्थंकर भगवान् चन्द्रप्रभ का चाँदनी-शीतल कण्ठ से स्तवन करने लगे :

"चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्,
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम्।
यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेशभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्,
ननाश बाह्यं बहुमानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम्।"

...इस अविरल बहती वाग्धारा के भक्ति-माधुर्य से तमाम उपस्थित मानव-मण्डल मन्त्रमोहित और स्तम्भित हो रहा।

...सहसा ही भूगर्भ में घनघोर गर्जना-सी होने लगी। फिर अगोचर में कहीं जैसे उल्कापात का वज्रनिनाद-सा हुआ।...और तत्काल एक प्रचण्ड विस्फोट ध्वनि के साथ स्वयम्भू ज्योतिर्लिंग प्रस्फुटित हुए, और उनके शिखाग्र पर भगवान् चन्द्रप्रभ का अतीव मनोज्ञ चन्द्र-धवल विग्रह अर्हत् मुद्रा में प्रकट हुआ। अनेकान्त की कोटि-कोटि किरणों में विच्छुरित, भगवान् का यह चन्द्रमौलीश्वर स्वरूप साक्षात् करके, हजारों कण्ठों से ध्वनित हुआ :

"भगवान् चन्द्रप्रभ की जय...
भगवान् चन्द्रमौलीश्वर की जय...!"

समन्तभद्र ने साष्टांग प्रणिपात में नमित होकर 'एकमेवाद्वितीय' भगवान् का वन्दन किया। फिर निरन्तर बढ़ती जयकारों के बीच उन्होंने आदिनाथ वृषभेश्वर के चन्द्रशेखर स्वरूप के समक्ष, चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन समाप्त किया। और 'शिवोऽहं...शिवोऽहं...' की मन्त्र-ध्वनि के साथ वे फिर एक बार अनैकान्तिक पारमेश्वरी सत्ता के सम्मुख नमित हुए।

महाराज शिवकोटि अश्रु-सजल नयनों से कुमार-योगी समन्तभद्र के चरणों में शरणागत हुए और बोले :

"योगिन् साक्षात् महेश्वर हो ! प्रबुद्ध हुआ कि जो भगवान् ऋषभदेव आदिनाथ हैं, वही देवाधिदेव आदिनाथ शंकर हैं। दोनों ही वृषभारोही हैं। दोनों ही धर्मरूपी वृषभ के महाचारण हैं।...जो भगवान् चन्द्रप्रभ हैं, वही भगवान् चन्द्रमौलीश्वर हैं। जिनेश्वरों की अनेकान्तिनी ज्ञान-ज्योति से भास्वर हो तुम, हे दिगम्बर ! मैं आप्यायित हुआ। मैं जिनबोधित हुआ...!"

...और कहा जाता है कि इस घटना के बाद काशीराज शिवकोटि ने महायोगी समन्तभद्र के चरणों में जिनेश्वरी प्रव्रज्या अंगीकार की। और श्रीगुरु-कृपा से आलोकित होकर उन्होंने 'भगवती आराधना'-जैसे अनगार धर्म के उपदेष्टा महान् ग्रन्थ की रचना की।

...और तब सिद्धसेन दिवाकर के समकक्ष ही आर्यावर्त के ज्ञान-गगन में अनेकान्त और सर्व-समन्वयी विश्वधर्म का उद्गाता, एक और महासूर्य प्रद्योतमान हुआ : नैयायिक-चक्र-चूडामणि भगवान् समन्तभद्र ! इस दिगम्बर नरसिंह ने अपने सोऽहंकारी स्तुति गानों से समकालीन विश्व के ज्ञान-दिगन्तों को एक अपूर्व बौद्धिक अतिक्रान्ति से जाज्वल्यमान कर दिया।

...उसके भीतर आत्म-तत्त्व ने, विश्व-तत्त्व होकर पृथ्वी पर दिगम्बर विचरण किया।

और विक्रम की तीसरी शताब्दी के भारतीय खमण्डल में सर्वतोमुखी ब्रह्मतेज का एक अनहदनाद-सा गूँजता सुनाई पड़ रहा था :

"आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहम्,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायाम्,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् !"

(23 अगस्त, 1979)

जब पुकारोगी, आऊँगा

आख्यान कुमार वर्द्धमान और चन्दनबाला का

जब से नन्द्यावर्त महल के इस नवम खण्ड में आ बसा हूँ, माँ के दर्शन नहीं हुए। शायद वे मुझसे नाराज हों। उनका चाहा मैं न कर सका। मेरा दुर्भाग्य। आर्यावर्त के राजकुलों की चुनिन्दा सुन्दरियाँ वे मेरे लिए लायीं, पर मैं उनमें से एक को भी न चुन सका। इस या उस नाते। जो चुनूँ, तो शेष की अवज्ञा होती ही। यह मेरे वश का नहीं था : क्योंकि मैं उन सबको निःशेष ही ले सकता था। और कई दिन साथ रहकर वह सुख उन्होंने मुझे दिया ही। *मैं सम्पूरित हुआ। उन सबका कितना कृतज्ञ हूँ!*

विशिष्ट का चुनाव जो मैं न कर पाया, वह मेरी ही मर्यादा रही : या कह लीजे अमर्यादा। उनमें तो कोई कमी थी नहीं। कमी मेरी ही रही कि मैं विवाह के योग्य अपने को सिद्ध न कर सका। विवाह से परे वे मुझे पा सकीं या नहीं, सो तो वे जानें। मैं, बेशक, उन सबको इतना समग्र पा गया, कि विवाह के द्वारा उस सम्पूर्ण प्राप्ति को खण्डित करने को जी न चाहा।...और जब वे गयीं, तो निराश या निष्फल तो वे रंच भी नहीं दीखीं। लगा था, जैसे भरी-पूरी जा रही हैं। और मेरे मन में भी कहीं ऐसा बोध किंचित् भी नहीं है, कि वे लौटकर चली गयी हैं।...

पर पता चला है, कि इन दिनों वैनतेयी की सार-सँभाल में माँ स्वयं ही लगी रहती हैं। मुझ पर से हटकर, उनका सारा लाड़-दुलार उस संकर दासीपुत्री पर केन्द्रित हो गया है। क्योंकि वह शाश्वत कौमार्यव्रती बाला मेरे प्रति समर्पित है। जान पड़ता जो मैं उन्हें न दे पाया, उसे वैना से

वे पा गयी हैं। इससे बहुत राहत महसूस होती है।

...आज सवेरे सहसा ही माँ द्वार में खड़ी दिखाई पड़ीं। उनका यह अतिथि रूप अपूर्व सुन्दर और प्रियंकर लगा। मैं उन्हें देखता ही रह गया। ऐसा भूला उस रूप में कि अलग से विनय करने तक का भान न रहा। एकाग्र उन्हें निहार रहा था, कि सुनाई पड़ा :

सुनता है मान, वैशाली से चन्दना आयी है। ...तेरी छोटी मौसी चन्दन...!"

"बहुत अच्छा...!"

"तुझसे मिलना चाहती है।"

"कौन माँ...?"

"कहा न, चन्दना...!"

"ये कौन हैं, माँ..."

"कहा न तेरी चन्दन मौसी ! कितनी ही बार तो तुझे उसके विषय में बताया है।"

"अच्छा-अच्छा...हाँ हाँ हाँ ! तो ये कहाँ से आयी हैं ?"

"तू तो कभी कोई बात पूरी सुनता नहीं। कहा न, वैशाली से आयी है।"

"बहुत अच्छा...!"

"हर बात का एक ही उत्तर है तेरे पास—बहुत अच्छा !"

"सो तो सब अच्छा है ही, माँ! है कि नहीं ? असल में आज तुम कितनी अच्छी लग रही हो, यही देख रहा था...!"

क्षण-भर एक सभर मौन हमारी परस्पर अवलोकती आँखों के बीच छाया रहा। उसमें से उबरती-सी वे बोलीं :

"तो लिवा लाऊँ चन्दना को, यहाँ मेरे पास ?"

"अ...हाँ ! वे आयें। अनुमति से क्यों, अधिकार से आयें। मुझे पराया समझती हैं ?—दूर मानती हैं क्या ?"

"पर तू किसका अपना है, और किससे दूर नहीं है, यह तो आज

तक कोई जान नहीं पाया...!"

"बहुत अच्छा ! ...तुम्हारे सिवा यह कौन जान सकता है, अम्मा ?...हाँ, तो आज्ञा दो माँ !"

"तो लिवा लाऊँ चन्दना को ?"

"अरे तुम क्यों कष्ट करोगी माँ। बस...वही आ जाएँ।"

और माँ एक निगाह, मुझे ताककर चली गयीं।

...हाँ, माँ से सुनता रहा हूँ, सबसे छोटी चन्दन मौसी हैं, वैशाली में। कि स्वभाव में वे ठीक मेरी सगी बहन हैं। न किसी से खास मेल-जोल, न बोल-चाल। बस, अपने में अकेली, और बेपता रहती हैं। और यह भी कि मुझे बहुत याद करती हैं। नहीं तो किसी को याद करना उनकी आदत में नहीं। अहोभाग्य मेरा...!

...अचानक ही क्या देखता हूँ कि हिमवान् की कोई अगोचर चूड़ा जैसे 'नन्द्यावर्त' की छत पर निर्झरी-सी चली आ रही है। नीली-उजली-सी एक इकहरी लड़की। हलके पद्मराग अंशुक के कौशेय में, वैदिक ऋषि की ऊषा को जैसे यहाँ सहसा प्रकट देखा। एकत्रित घना केशपाश जरा बंकिम ग्रीवा के एक ओर से पूरा वक्षदेश को अतिक्रान्त करता चरण चूमने को आकुल है।

...पूरा आसपास मानो बदली-बदली निगाहों से देख उठा।...

"आओ चन्दन मौसी, वर्द्धमान प्रणाम करता है !"

"अरे वर्द्धन, कितना बड़ा हो गया रे। पहली बार तुझे देख रही हूँ।"

"और मैं भी तो तुम्हें पहली बार देख रहा हूँ, मौसी !"

"सो तो है ही। तुझे तो हमारी पड़ी नहीं। वैशाली जैसे तीन लोक से पार हो कहीं...!"

"तुम वहाँ रहती हो, तो है ही...!"

"मेरी बात छोड़, पर अपनों में, परिवारों में कभी कहीं दीखा है तू ? कितना तरसते हैं सब तुझे देखने को ! मगध, उज्जयिनी, कौशाम्बी, चम्पा, सौवीर में जाने कितने उत्सव-विवाह प्रसंग आये होंगे। पर तेरे दर्शन दुर्लभ।

अपनों से, आत्मीयों से तुझे तनिक भी ममता नहीं क्या ?"

"हाँ-हाँ, है क्यों नहीं। सब ओर स्वजन, परिवार ही तो हैं, मौसी। और उत्सव भी, देखो न, सदा चारों ओर है। अब अलग-अलग कहाँ-कहाँ जाऊँ... ।

"और सुनता हूँ मौसी, तुम भी तो खास कहीं जाती-आती नहीं। आरोपी मैं अकेला नही हूँ...!"

"...देख न, मैं आयी हूँ कि नहीं...!"

"सो तो देख रहा हूँ। मेरे पास आयी हो न, मेरा अहोभाग्य ! लेकिन और भी सब जगह जाती हो क्या ?"

"वैशाली में ही आ जाती हैं मेरी सारी दीदियाँ। छोटी हूँ न, सबकी लाड़ली, सो मेरा मान रख लेती हैं...!"

"तो ठीक है, मेरा मान तुमने रख लिया। किसी का लाड़ला तो मैं भी हो ही सकता हूँ।"

"पागल कहीं का...! उम्र में तुझसे छोटी हूँ तो क्या हुआ। मौसी हूँ तेरी, तो बड़ी ही हूँ तुमसे। है कि नहीं...?"

"बड़ी तो तुम आदिकाल से हो मेरी। यह छत्र-छाया सदा बनाये रखना मुझ पर, तो किसी दिन इस दुनिया के लायक हो जाऊँगा...?" एकटक मुझे देखती, वे ममतायित हो आयीं।

"सुनती हूँ, जंगलों-पहाड़ों की खाक छानता फिरता है। पर न अपने से कोई सरोकार, न अपनों से। किसी से कोई ममता-माया नहीं ?"

"देखो न मौसी, सबसे ममता हो गयी है, तो क्या करूँ। अलग से फिर किसी से ममता या सरोकार रखने को अवकाश कहाँ रह गया ?"

"सो तो पता है मुझे, तू किसी का नहीं। अपनी जनेता माँ का ही नहीं रहा !...जीजी की आँखें भर-भर आती हैं !..."

"तो प्रकट है कि उनका भी हूँ ही। पर उन्हीं का नहीं हूँ, सबका हूँ—तो यह तो स्वभाव है मेरा। इसमें मेरा क्या वश है, मौसी !"

"मान...!"

आगे चन्दना से बोला न गया। डबडबायी आँखों से मुझे यों देखती रह गयीं, जैसे मैं अगम्य हूँ। पर उनकी ये आँखें भी कहाँ गम्य थीं !...

"तुझे अपने से ही सरोकार नहीं रहा, तब औरों की क्या बात !"

"तुम हो न !...फिर मुझे अपनी क्या चिन्ता ?"

"मेरी और किसी की भी चिन्ता का तेरे मन क्या मूल्य है, मान ?"

"मूल्य यह क्या कम है, कि तुम हो...मेरे लिए !"

"सो तो देख रही हूँ।...यह हाल जो तुमने बना रखा है अपना !..."

"जैसे...?"

"इस कक्ष में कोई शय्या तो दीखती नहीं। पता नहीं कहाँ सोते हो ? ...सोते भी हो कि नहीं ?"

"शय्या तो, मौसी, जहाँ सोना चाहता हूँ, हो जाती है। कोई एक खास शय्या हो जाए, तो सोना भी पराधीन हो जाए। सोना तो मुक्ति के लिए होता है न !...पराधीन शय्या मेरी कैसे हो सकती है...?"

"पूछती हूँ, कहाँ सोता है...?"

"देख तो रही हो, यह मर्मर का उज्ज्वल सिंहासन, जिस पर बैठा हूँ। महावीर का सोना अपने सिंहासन पर ही हो सकता है ! तो क्या तुम खुश नहीं इससे ?"

"इस ठण्डे शिला-तल्प पर ?...न गद्दा, न उपधान ! इस सीतलपाटी पर ?...ठीक है न ?"

"गद्दे पर सोऊँ, तो अपने ही मार्दव से वंचित हो जाऊँ। गद्दे की नरमी और गरमी मुझे बहुत ठण्डी लगती है, मौसी। अपनी ही नरमी और गरमी मेरे लिए काफी है।...स्वाधीन !"

"ठीक है, तब उपधान का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है...?"

"रुई, रेशम और परों के उपधान मुझे सहारा नहीं दे पाते, मौसी।

प्रिया की गोद हो, या फिर उसकी बाहुएँ !...जड़ उपधान पर क्या सिर डालना !"

चन्दना को बरबस ही हँसी आ गयी। कुछ आश्वस्त होती-सी वे बोलीं :

"तो वह प्रिया क्या रात को आसमान से उतर आती है ?"

"यह मेरी बाहु देखो, मौसी। किस कामिनी की बाँह इससे अधिक कोमल और कमनीय होगी ? अपनी प्रिया को अपनी इस बाँह से अलग तो मैं कभी रखता नहीं। जब चाहूँ, वह मेरे सोने को गोद, या बाँह ढाल देती है। मुझसे अन्य कोई भी प्रिया, पहले अपने मन की होगी, फिर मेरी। उसका मन न हो, तो अपना मन मारना पड़े। उसके भरोसे रहूँ, तो ठीक से सोना या चैन नसीब ही न हो...!"

सामने स्फटिक के भद्रासन पर बैठी चन्दना के चेहरे पर एक गहरी जल-भरी बदली-सी छा गयी। मेरे सामने देखना उसे दूभर हो गया। ...उसकी झुकी आँखों ने सहसा ही तैरकर, अपनी पद्मिनी बाहुओं को एक निगाह देखा। अपने ही जानुओं में सिमटी गोद को निहारा।

"तो फिर मेरी क्या जरूरत तुझे...?"

...उस आवाज में जल-कम्पन-सा था। वहाँ मुद्रित, मुकुलित उस कमलिनी का समग्र बोध पाया मैंने।

"ओह चन्दन...तुम कितनी सुन्दर हो !...मुझे पता न था...।"

एक अथाह शून्य हमारे बीच व्याप गया। चन्दना की पलकें मुँद गयीं। जानु पर ढलकी हथेली पर, अँगूठे और मध्यमा उँगली के पोर जुड़कर, एक अँजुलि की मुद्रा-सी वहाँ बन आयी।...फिर कुछ आपे में आकर वह बोली :

"मान, तू ब्याह क्यों नहीं करता ? अब तो बड़ा हो गया है तू ! जीजी का मन कितना कातर है, तेरी इस हठ से !..."

"ओ...ब्याह ? हाँ-हाँ-हाँ। लेकिन सुनो मौसी, तुम इतनी सुन्दर हो, फिर मैं ब्याह कैसे करूँ ?..."

अन्तर्निगूढ़ लाज का एक अभ्र चन्दना की बरौनियों में खेल गया। और चेहरे पर एक महीन रक्तिमा। हँसकर बोली :

"मेरे सौन्दर्य का तेरे विवाह से क्या सम्बन्ध, मान ?"

"तुम्हारा ही नहीं मौसी, ऐसा सौन्दर्य जगत् में कहीं भी हो, तो विवाह मेरे लिए अनावश्यक है।"

"मतलब...?"

"विवाह, तब, मेरी अन्तर-तृप्ति को भंग करता है।"

चन्दना के मर्म में उतरकर लुप्त और गुप्त हो रही यह बात। डुबकी खाकर ऊपर आती-सी वह बोली :

"मान, मैं तो हूँ ही, कहाँ जानेवाली हूँ...!"

"तब मैं कहीं और क्यों बँधूँ ? तुम हो ही मेरे लिए, यह क्या कम है ?..."

"पागल कहीं का ! वहू तो चाहिए न।"

"नहीं, वल्लभा चाहिए मुझे।"

"समझी नहीं...?"

"जो आत्मवत् लभ्य हो, वही वल्लभा।"

"सो तो वहू होगी ही।"

"नहीं, वल्लभा और बात है, वैदेही !"

"तो उसे कहीं और खोजेगा क्या ?"

"खोजने नहीं जाना पड़ा।...मुझे पता था, वही आएगी एक दिन मेरे द्वार पर !"

"कब आएगी ?"

"आ गयी...!"

"कब, कहाँ...?"

"अभी, यहाँ !"

एकटक प्रणत भाव से मैं उस चन्दना को देखता रह गया। चहुँ ओर से लज्जावेष्टित, वह अपने में तन्मय, मुकुलित, मौन हो रही। मौन तोड़ा पुरुष ने :

"अच्छा मौसी, तुम विवाह कब करोगी ?"

"पहले तेरा, फिर मेरा। मैं छोटी हूँ कि नहीं तुझसे ?"

"एक साथ ही हो जाए, तो क्या हरज है ?"

"मतलब...?"

"यही कि तुम करो ब्याह, तो मैं भी तैयार हूँ...!"

चुप रहकर चन्दना, मानो कुछ सोचकर, चली उँगली चबाती रही। फिर सहसा ही बड़ी सारी उज्ज्वल आँखें उचकाकर बोली :

"और मान लो, मैं ब्याह करूँ ही नहीं !"

"तो मौसी, जान लो, कि मैं भी नहीं करूँगा।"

"ये तो कोई बात न हुई !"

"बस, यही तो एक मात्र बात है, चन्दन !"

"अच्छा, वचन देती हूँ, मैं विवाह करूँगी। तू भी वचन दे !"

"वर्द्धमान भविष्य में नहीं जीता। वह सदा वर्तमान में जीता है। इसी क्षण वह प्रस्तुत है। वह कहता नहीं, बस, करता है।"

"वर्द्धमान...!"

"चन्दन...!"

एक अभंग विराट् मौन कक्ष में जाने कब तक व्याप्त रहा। काल वहाँ अनुपस्थित था। चन्दना उठकर खड़ी हो गयी। फिर मेरे सम्मुख निश्चल अवलोकती रह गयी।

...और अगले ही क्षण, उसने माथे पर आँचल ओढ़, झुककर महावीर के चरण छू लिये।

"कब मिलोगे फिर ?"

"जब चाहोगी।...जब तुम पुकारोगी, आऊँगा !"

और माथे पर ओढ़े पल्ले की दोनों कोरों को, चिमटी से चिबुक पर कसती-सी चन्दना धीर गति से चलती हुई, कक्ष की सीमा से निष्क्रान्त हो गयी।...

(13 सितम्बर, 1973)

त्रिभुवन-मोहिनी माँ

आख्यान कवि-योगीश्वर आर्य जिनसेन का

शक संवत् ७५० के एक सवेरे की बात है। कर्नाटक के पाट-नगर मान्यखेट के राज-दरबार में सम्राट् अमोघवर्ष अपने सुवर्ण-सिंहासन पर अकारण ही कुछ उदग्र दिखाई पड़े। कि तभी एक प्रतिहारी ने आकर प्रणिपातपूर्वक उच्च घोष के साथ निवेदन किया :

"जगत्तुंगदेव-पुत्र, नृपतुंग, शर्व, शण्ड, अतिशय-धवल, वीरनारायण, पृथिवी-वल्लभ, लक्ष्मी-वल्लभ, महाराजाधिराज, परम भटार, परम भट्टारक अमोघवर्ष-देव जयवन्त हों !"

"प्रसन्न रहो प्रतिहारी। क्या शुभ संवाद है, आज के प्रभात की इस मंगल वेला में ?"

"पाण्डित्य-प्रभाकर, सर्वशास्त्र-सागर महापण्डित जयतुंगदेव महाराज के दर्शनों के प्रत्याशी हैं।"

"महापण्डित का सहर्ष स्वागत है।"

कुछ ही क्षणों में वेद-वेदान्त-मार्तण्ड महापण्डित जयतुंगदेव दीर्घ शिखा, त्रिपुण्ड्र तिलक और सुगन्धित कौशेय से वातावरण को उद्दीप्त करते हुए सम्राट् के समक्ष आ नतमाथ हुए।

"बहुत समय बाद महापण्डित ने कैसे आज अचानक कृपा की ?"

"अनुगृहीत हुआ महाराज के सुहृद् भाव से।...कर्नाटक की प्रजा धर्मसंकट में है, सम्राट् !"

"आदिकाल की धर्मभूमि कर्नाटक में धर्म-संकट कैसा ? कर्नाटक की

माटी, पत्थर, जल, कण-कण, तृण-तृण धर्म की स्वाभाविक आभा से दीपित है। योगीश्वरों, सारस्वतों और संयती सम्राटों की ज्योतिर्मान परम्परा से उद्भासित है हमारा कर्नाटक। धर्म की ग्लानि से कर्नाटक अपरिचित है, पण्डितराज। फिर यह धर्म-संकट कैसा ?"

"अपराध क्षमा हो, महाराज। आपके गुरुपाद महाकवि जिनसेन ने अपने महाकाव्य महापुराण में तीर्थंकर ऋषभदेव की माता मरुदेवी का जो अनर्गल शृंगारिक नख-शिख वर्णन किया है, उसमें उन्होंने धर्म की मर्यादा का लोप किया है। कर्नाटक के धीमान्, विद्वान्, कवि और प्रजाजन, सभी उस वर्णन को कामुक और विकारी मानते हैं।"

"आर्य जिनसेन पूर्णकाम पुरुष हैं, पण्डितराज। काम और विकार जगत् और जीवन में हैं, तो जिनसेन निश्चय ही उसके अनासंग द्रष्टा हैं। वे उसके साक्षात्कारी सर्जक कवि हैं। पर वे सामान्य कवि नहीं, योगी कवि हैं। काम और विकार का वे रस-दर्शन की जिनेश्वरी भूमिका से अवबोधन करते हैं। विषय और विषयी के स्थायी और संचारी भाव उनके लिए हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष-दर्शन का विषय हैं। वह सर्वांग स्वभावतः ज्ञान होकर, उनके लिए विशुद्ध आनन्द हो जाता है। प्रथम और अन्तिम रूप से वे द्रष्टा हैं। इसी से जीवन-जगत् के प्रत्येक भाव और सौन्दर्य के वे पूर्णकाम भोक्ता हैं। उनके लिए भोग ही योग हो गया है, योग ही भोग हो गया है। सम्यग्दृष्टि ही सौन्दर्य का परम भोक्ता हो सकता है। महाकवि जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव की जगदम्बा माता का सौन्दर्य-वर्णन सम्यक् दर्शन की उसी परम पारमेश्वरी, रसेश्वरी चेतना-भूमि से किया है। उसमें काम और विकार पराकाष्ठा पर उद्दीप्त होकर भी, अनायास ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान में उत्तीर्ण हो जाते हैं। वे शुद्ध रसानन्द बन जाते हैं। और रसानन्द केवल अनुभूतिगम्य और आत्मगम्य है। उसे कोई नाम और मूल्य देकर, उसकी धारा को हम विकृत और भंग ही कर सकते हैं।"

"कवि-राजमार्ग-जैसे गहन काव्य-शास्त्र के रचयिता और प्रश्नोत्तर-

मालिका-जैसे सूक्ष्म-दर्शन-ग्रन्थ के प्रणेता परम सारस्वत सम्राट् अमोघवर्ष के इस तर्क को मैं समझ सकता हूँ। किन्तु क्षमा करें, राजन्, सर्व-सामान्य प्रजा काव्य को तर्क से नहीं, सीधे हृदय के भाव से ग्रहण करती है। और आर्य जिनसेन के शृंगारिक वर्णन से यदि प्रजा का मनोभाव विकृत हुआ है, तो ऐसा काव्य लोक-कल्याण की दृष्टि से अनर्थक ही कहा जा सकता है।"

"मैंने तर्क नहीं किया, महापण्डित, केवल काव्य के उस निर्मल उद्गम की ओर इंगित किया है, जहाँ से महाकवि जिनसेन की कविता उद्भूत हुई है। और कविता यदि सचमुच कविता है, तो वह भाव-ग्राह्य ही हो सकती है, तर्क-ग्राह्य नहीं। और वह मैं निश्चित जानता हूँ कि भावक प्रजाजन मरुदेवी के नख-शिख वर्णन को पढ़कर, एक सहज स्वाभाविक रसानन्द से भावित और आप्लावित हुए हैं। सामान्य भावक काव्य के रस से केवल भावित होता है, उसका विश्लेषण और मूल्यांकन करने की खटपट में वह नहीं पड़ता। मुझे तो ऐसा लग रहा है, पण्डितराज, कि कवि और भावक के बीच यह जो आपकी आलोचक पण्डित-मण्डली है न, उसी ने तर्क-वितर्क करके महाकवि के शुद्ध शृंगार रस को विकारी और कामुक आदि विशेषण देकर विकृत किया है, और इस तरह सहृदय, सरल भावकों को भ्रमित किया है।"

"सम्राट् को शायद यह अनजाना नहीं, कि काव्य-शास्त्र को थोड़ा-बहुत मैं भी समझता हूँ। सर्जक और भावक के सम्बन्ध से मैं अनभिज्ञ नहीं। और कर्नाटक की प्रजा इतनी मूर्ख और भावहीन भी नहीं, कि पण्डितों के तर्क से बहक जाए। जन-समाज में जो विक्षोभ फैला है, जो ग्लानि व्यापी है, उसे मैंने प्रत्यक्ष जाना-बूझा है, और तटस्थ भाव से उसका निवेदन कर्नाटक के प्रजा-पालक सम्राट् तक पहुँचाने आया हूँ।"

"पाण्डित्य-प्रभाकर जयतुंगदेव की प्रतिभा और पाण्डित्य का मैं कायल हूँ। और यदि किसी कारण प्रजा में ऐसा अज्ञान और भ्रम फैला है, तो पण्डितराज का कर्तव्य है कि उसका निवारण करें। जिनसेन की कविता

में कामुकता देखना, अपने ही हृदय के कालुष्य और कामुकता का परिचय देना है। आप तो जानते हैं, महासारस्वत, कि पार्श्वाभ्युदयकार जिनसेन को कामुक नहीं कहा जा सकता, काम-साम्राज्य का विजेता कवि-सम्राट् ही कहा जा सकता है। यह भी आपसे छुपा नहीं, पण्डितेश्वर, कि कालिदास कामाध्यात्म के यत्थरो नाऽस्ति महाकवि थे। मेघदूत में उनका कामाध्यात्मिक रस-दर्शन चरमोत्कर्ष पर पहुँचा है। उसी मेघदूत के मन्दाक्रान्ताओं को शब्दशः स्वीकार, ठीक उन्हीं की पाद-पूर्ति के रूप में महाकवि जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय-जैसी अपूर्व मौलिक काव्य-कृति की रचना की है। कालिदास के उद्दाम और ऊर्ध्वोन्मुख शृंगार-छन्दों को ज्यों-का-त्यों अंगीकार करके जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय में, उस शृंगार को भगवान् पार्श्वनाथ की परम रसेश्वरी तपो-लक्ष्मी के योगानन्द में रूपान्तरित कर दिया है। उन्हीं पार्श्वाभ्युदयकार जिनसेन ने महापुराण में, रसानन्द को अपने काव्य के अमोघ रसायन से ब्रह्मानन्द की भूमिका में उत्क्रान्त कर दिया है। ऐसे रस-सिद्ध और सिद्ध-सारस्वत कवि की कविता का अन्यथा प्रभाव जन-हृदय पर पड़ ही नहीं सकता। नहीं तो उनकी सरस्वती असिद्ध और मिथ्या हो जाए।''

''सम्राट् जानते हैं कि कालिदास की कविता भी लोक में कलंकित हुए बिना न रह सकी। कुमारसम्भवम् में भगवती उमा का नख-शिख वर्णन करते हुए, उनका रस-ब्रह्म आखिर मर्यादा का अतिक्रमण कर गया, स्खलित हो गया। और यह एक लोक-विख्यात तथ्य है कि जगदम्बा के शृंगार-वर्णन में अधःपतन की सीमा तक जाने के कारण ही कालिदास-जैसा रसराज-राजेश्वर कवि अन्ततः गलित कुष्ठ-जैसे घृणित रोग का ग्रास हो गया...!''

''सावधान महापण्डित ! मुझे आशा नहीं थी कि आप-जैसा सर्वशास्त्र पारंगत विद्वान्, इस स्तर पर उतरकर, इस भाषा में भी बोल सकता है। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि आप कालिदास-जैसे कामेश्वर कवि को इन मिथ्या और रूढ़ किंवदन्तियों से मापने में गौरव अनुभव कर सकते

है। मुझे ठीक-ठीक प्रतीति है कि कालिदास और जिनसेन की सरस्वती का आनन्द-साम्राज्य, केवल मानव-हृदय में ही नहीं, तमाम जड़-जंगम प्रकृति के आर-पार व्याप्त है। ऐसे कवियों की वाणी मात्र कथन नहीं होती, सूक्ति नहीं होती, वह देश-काल की सीमाओं को पार कर समस्त सृष्टि में अन्तर्निगूढ़ भाव से व्याप कर, उसमें चेतना के विकास की एक नयी भूमिका उन्नीत कर देती है। ऐसे कवियों की कविता का विवेचन और मूल्यांकन नहीं हुआ करता : उसको केवल अवबोधन और अनुभावन से आस्वादित किया जा सकता है। इस रस को उलीचा नहीं जा सकता, इसमें केवल डूबा और खोया जा सकता है।...

"महापण्डित, केवल एक वाक्य में स्पष्ट करें, आप मुझसे क्या चाहते हैं, इस सन्दर्भ में ? आपकी पण्डित-मण्डली और उसके द्वारा भ्रमित प्रजा अपने राजा से क्या माँग करती है ?"

"स्पष्ट कथन ही आप चाहते हैं न, सम्राट् ? तो सुनें : समस्त दक्षिणावर्त और आर्यावर्त में आग की तरह यह अपवाद फैला है, कि आदि तीर्थंकर वृषभनाथ की जगदीश्वरी माता मरुदेवी का ऐसा निर्बन्ध शृंगारिक नख-शिख वर्णन करके दिगम्बर जैन यति जिनसेन का ब्रह्मचर्य स्खलित हुआ है। समस्त लोकजनों की ओर से मैं यह माँग लेकर सम्राट् के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ, कि कर्नाटक के भरे राजदरबार में, खुले आम स्वयं जिनसेन खड़े होकर अपने महापुराण के उस शृंगारिक अंश का पाठ करें। लोक-जन उनके दिगम्बरत्व को कसौटी पर परखने को उद्यत है, महाराज ! प्रजा उन्हीं के श्रीमुख से उनकी शृंगारिक कविता का पाठ सुनकर, उनके कवि और कविता की निर्विकारता और निष्कामता को खुली आँखों देखना चाहती है।..."

"तथास्तु महापण्डित !...लोक की इस शंका के समाधान का भरसक प्रयत्न किया जाएगा। वैसे चलते जोगी और बहते पानी हमारी आज्ञाओं के अनुचर नहीं हो सकते। पर मैं जानता हूँ, त्रैलोक्येश्वर तीर्थंकर के कवि जिनसेन लोक-हृदय की अवहेलना नहीं करेंगे। किन्तु आपको स्वयं मेरे

साथ चलकर भगवत्पाद जिनसेन देव के समक्ष अपनी यह कसौटी प्रस्तुत करनी होगी। वे आरण्यक अवधूत, पक्षियों की तरह अनियतवासी हैं। शीघ्र ही पता लगवायेंगे हम कि श्रीगुरुपाद इस समय किस भूमि को अपने विहार से पावन कर रहे हैं। अपनी प्रजा और पण्डित-मण्डली को आश्वस्त करें कि उनकी इच्छा पूरी की जाएगी।...''

''पृथिवी-वल्लभ परम भट्टार सम्राट् अमोघवर्ष की जय हो !''

कहकर अभिवादनपूर्वक महापण्डित जयतुंगदेव एक उद्दण्ड विजय-दर्प के साथ राज-दरबार से विदा हो गये।

o o o

तुंगभद्रा नदी के पर पार की यह अहिच्छत्र नामक महावनी मानवों के लिए अगम्य मानी जाती है। यहाँ गहरी सुगन्ध से व्याप्त एक सघन चन्दन-वन आकाश के तटों तक चला गया है ! भयानक है यहाँ की रमणीयता। चन्दन-वृक्षों की जड़ों, धड़ों और डालों तक को बड़े-बड़े भुजंगम नाग गाढ़ आलिंगन में बाँधे हुए हैं। तलदेश की, नाना आदिम सुगन्धों से आविल वनस्पतियों के विवरों में नाग-नागिनियों के मणि-दीप्त युगल मानो चिरन्तन मैथुन में लवलीन हैं। रह-रहकर हवा में मरमराते पत्तों और पतझरों में विचित्र ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। मनुष्य के यहाँ होने की कल्पना भी नहीं हो सकती। किन्हीं अदृश्य पदचापों से सारी अटवी चाहे जब थरथरा उठती है।

उस वन के गहन में, पूर्वीय घाट के पाद-प्रान्त की एक गुफा के बाहर, फणामण्डल से छाये किसी चन्दन-वृक्ष की छाँव में, कोई स्फटिक-सा पारदर्शी नग्न पुरुष सामने रखे शिला-पट्ट पर कुछ लिख रहा है। हरे पत्थर के एक ओंडे चषक में पर्वत के धातु-द्रव की रोशनाई है। और ताड़-पत्रों की एक-एक थप्पी पर उसकी वेतस-लेखनी अविराम चल रही है।

इस भयंकर वन-भूमि में सम्राट्-शार्दूल अमोघवर्ष के साथ चलते हुए

शास्त्रों के सागर महापण्डित जयतुंगदेव के ज्ञान का तलिया उलटकर बाहर आ गया। किसी अज्ञात प्रेरणा के मान्त्रिक सम्मोहन से खिंचे वे इस वन की अगम्यता में, सम्राट् का मात्र अनुसरण करते चले जा रहे हैं।

बरबस ही उनकी आँखें उठीं तो देखा, कि मानो सामने की गुफा का अगम अँधियारा एक भास्वर पुरुष-मूर्ति में आकृत होकर, अपने तेज के फल से, पर्वत-शिलाओं को तराशता चला जा रहा है।...

प्रणिपात से उठकर दण्डवत् मुद्रा में ज्यों ही सम्राट् और महापण्डित बैठे कि, सुनाई पड़ा :

''तुम्हारे पण्डितों और प्रजाओं का आरोप सही है, आयुष्मान् ! जिनसेन से अधिक कामी लोक में और कौन हो सकता है ! जिनसेन महाकामी है : क्योंकि वह सर्वकामी है।...पूर्णकाम है मेरा जीवन। ऐसा अदम्य है मेरा काम, कि वस्त्र की बाधा तक मुझे असह्य हो गयी। नितान्त नग्न होकर ही चैन पा सका। ताकि इस अनन्त सुन्दरी सृष्टि के अणु-अणु का अटूट आलिंगन पा सकूँ। हवा और पानी की हर गुजरती लहर का अपने अंग-अंग से रभस कर सकूँ। नित्य भोग, निरन्तर मैथुन हो जाए मेरा जीवन। विधि-निषेध से परे प्रकृति के इस निर्बाध साम्राज्य में आकर, मैं इसके जलों, माटियों, वनस्पतियों, प्राणियों के साथ समाधि-शयन में अनिर्वार डूबता चला गया। इसी अखण्ड महामिलन में से आ रही है मेरी कविता। उस पर तुम्हें और तुम्हारी प्रजाओं को क्या आपत्ति है ?''

''देवार्य, आपके शृंगारिक काव्य से लोक-मानस विकार-ग्रस्त हो गया है। उसने उन्हें कामुकता से व्याकुल कर दिया है।''

''तो इष्ट ही हुआ है, पण्डितराज। काम व्याकुलता की परा सीमा पर पहुँचकर ही निराकुल आत्मकाम हो सकता है। विकार अभाव का अन्धकार है। वह भीतर दबा है, तो उसको बाहर आ जाना चाहिए। वह उमड़-घुमड़कर बाहर आया है, तो मेरी कविता सार्थक हो गयी। भीतर का चोर साहुकार बनकर सामने आ गया। तो जानो कि मुक्ति का मार्ग सरल हो गया।...और सुनो पण्डितराज, काम तो वस्तु-स्वभाव है। वह वस्तु

में अन्तर्निहित महाशक्ति है। दमित और विकृत होकर, वही यौनाचार बनता है। अन्यथा तो वह सृष्टि की मुक्त सृजन-कारिणी आह्लादिनी शक्ति है। वह है कि वस्तु में परिणमन है। निरन्तर संचरण है। उसी में से सृष्टि है, अनादि और अनन्त। काम है, कि परिणाम है। काम ही तो आत्मा है। वह आद्या चिति-शक्ति है। और चैतन्य अकामिक वस्तु कैसे हो सकता है ? अकाम कौन हो सकता है ? क्या सत्ता अपना स्वभाव छोड़ सकती है ? अकाम नहीं, पूर्णकाम ही हुआ जा सकता है। काम जब तक अपूर्ण है, अतृप्त है, तब तक विकार से छुट्टी नहीं। जीवन जब तक स्वभाव में नहीं, विभाव में है, तब तक विकार अनिवार्य है। स्वभाव के पूर्ण साक्षात्कार में पहुँचने से पहले, विभाव का, विकार का पूर्ण साक्षात्कार करना होगा। मेरी कविता को पढ़कर प्रजा के हृदय में दबा विकार खुलकर सामने आ गया है, तो मेरा कवि कृतकाम हो गया।...मेरा शब्द सिद्ध हुआ कि, लोक नग्न होकर अपनी आत्मा के आमने-सामने खड़ा हो गया है।..."

"तो आर्य जिनसेन, क्या प्रजा की आत्मा को इस विकार और कामुकता में डूब जाने को छोड़ देना होगा...?"

"आत्मा विकार में डूब ही नहीं सकती, वह उसका स्वभाव नहीं। और विकार से वह त्रस्त हुई है, तो ठीक ही है, इस सन्त्रास से निष्क्रान्त होकर ही वह चैन लेगी। मांगलिक मुक्ति का आयोजन हुआ है मेरी कविता से !..."

"विश्व-पुरुष ऋषभदेव की विश्वम्भरा माता को आपने लोक के समक्ष नग्न किया है। आपने माँ को मातृत्व के पवित्र आसन से गिराया है !..."

"आद्या शक्ति माँ तो अपने स्वरूप में ही दिगम्बरी हैं, आयुष्मान्। उन्हें अपनी ओर से नग्न करने का अहंकार मैं कैसे कर सकता हूँ ! नग्नता तो स्वभाव है : सो उससे अधिक पवित्र तो कुछ हो नहीं सकता। माँ अपने अणु-अणु में निरावरण होकर यदि लोक के हृदय में साक्षात् हो उठी हैं, तो जिसे आप विकार कह रहे हैं न, वह उन माँ के स्वरूप में नहीं,

हमारे दर्शनावरणी और ज्ञानावरणी कर्म में हैं, जिसकी पट्टियाँ हमारी आँखों पर बँधी हुई हैं। वह मात्र विभाव की क्षणिक माया है, छलना है। आप चिन्ता न करें, वे परम नग्ना इतनी समर्थ हैं, कि स्वयं ही अपने निरावरण सौन्दर्य के तेज से, हमारे विकार के इस अवशिष्ट आवरण को भी चीर फेंकेंगी। अपनी सन्तानों को उनके प्रकृत उद्गम में लौटाकर, अपनी छाती पर उन्हें आश्वस्त कर देंगी...।''

''क्षमा करें, महाकवि, यह सब निरा दार्शनिक वाग्जाल है। यथार्थ यह है, कि माँ को आपने माँ नहीं रहने दिया है। उसे निरी रमणी बनाकर छोड़ दिया है...!''

''भगवती आत्मा, अपने प्रकृत स्वरूप में ही रमणी है, आयुष्यमान् ! इसी से बारम्बार जिनेश्वरों के श्रीमुख से मुक्ति-रमणी के साथ मुक्त रमण की बात उच्चरित हुई है। और माँ पहले रमणी ही हैं, तभी तो मैं जन्मा, आप जन्मे, भगवान् ऋषभदेव जन्मे, यह सारा जगत् जन्मा : और तब वे रमणी ही माँ हो गयीं। एकान्त, एकांगी दर्शन किया है, इसी से तो विकार आया है मन में ! सत्ता अनेकान्ती है, अनन्त आयामी है। सो नारी भी नानामुखी है, नानारूपिणी है, नानाभाविनी है, नानाधर्मिणी है--जीवन की लीला में।...जिस क्षण नारी नितान्त रमणी होती है, चरम रमण के उस एकान्त क्षण में भी वह अविभाज्य रूप से आत्मदानमयी, सर्वस्व-समर्पणवती माँ भी होती है।...खण्ड दर्शन से विकार और काम-लिप्सा जागी है, पण्डितराज; अखण्ड दर्शन-भावन करें आप मेरी मरुदेवी के सौन्दर्य का, तो मेरी वे पूर्णकामिनी रमणी-माँ स्वयं आपको गोद में लेकर आपके सारे विकार सदा को शान्त कर देंगी। आपने वस्तु के एक अन्त को ही देखा है, तो उसका अनन्त हाथ से निकल गया है। आपने वस्तु को समग्र और निखिल के सन्दर्भ तोड़कर देखा है। आपने रमणी और माँ को विभाजित करके देखा है। आपने रमणी से माँ को छीन लिया है : और माँ से रमणी को छीन लिया है। इसी कारण सत्य का ऐसा अपलाप हुआ है। मिथ्या और विकार की माया में आप भटके हैं। पाप, कलुष,

विकार, मिथ्यात्व वस्तु में नहीं, भावक में है, अवबोधक में है, भोक्ता में है। वे उसकी खण्डित, एकान्तिक चेतना की दरारें हैं, दीवारें हैं, अँधियारे हैं।...उसमें रमणी-माँ मरुदेवी का, उनके सर्वांगीण सौन्दर्य का, उनकी नग्नता का और मेरी कविता का कोई दोष नहीं...!"

"आर्य जिनसेन, आपको अपनी आत्मा की और अपनी कविता की निर्विकारता पर ऐसा अटल विश्वास है, तो उसे लोक के समक्ष प्रमाणित करना होगा !"

"जिनसेन विकार और निर्विकार से परे, स्वयमाकार है, निरहंकार है। सो वह सर्वाकार है। लोक अपने कवि से क्या चाहता है ? उसके समाधान को जिनसेन चाहे जब प्रस्तुत है।..."

"भारतवर्ष के कविकुल-चक्रवर्ती जिनसेन को, सम्राट् अमोघवर्ष के खुले राज-दरबार में, दक्षिणावर्त और आर्यावर्त की समस्त प्रजा के समक्ष, भगवती मरुदेवी के नख-शिख वर्णन का काव्य-पाठ करके, अपने दिगम्बरत्व और कवित्व की निर्विकारता सिद्ध करनी होगी।..."

"स्वतः सिद्ध को सिद्ध करना, अहंकार की जल्पना ही होगी, आयुष्मान् ! मेरा रोम-रोम भगवती मरुदेवी की सौन्दर्य-प्रभा से प्रतिक्षण आप्लावित है। आप और आपके प्रजाजन चाहें, तो उस आप्लावन को निश्चय ही स्वयं कवि में तरंगित देख सकेंगे। आनन्द, सौन्दर्य और रस के उस अक्षय स्रोत में आप सब मेरे साथ निमग्न होना चाहते हैं, तो मैं आपका चिर कृतज्ञ हूँगा। सरस्वती-वल्लभ जिनसेन की कविता उस तरह सर्वकाल के लिए सिद्ध और सार्थक हो जाएगी। वह मानव-कुल के रक्त में भाव और ज्ञान की ऊर्ध्ववाहिनी धारा बनकर, सदा के लिए संचरित हो जाएगी...!"

"शाश्वतों में सदा जयवन्त हों, भगवान् जिनसेन ! जिनेश्वरी रसवन्ती के चूड़ामणि कवि जिनसेन ने, अमोघवर्ष के वचन की लाज रख ली। मैं धन्य हो गया श्रीगुरुनाथ !"

कहकर सम्राट् अमोघवर्ष सम्यक्त्व-मूर्ति जिनसेन के चरणों में भूमिसात् हो गये।

o o o

कन्याकुमारी से काश्मीर और काम्बोज से कामरूप तक की हवाओं में एक उदन्त गूँज उठा। कर्णाटक के राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष की राज-सभा में, आर्यावर्त के कविकुल-सूर्य आर्य जिनसेन अपनी चरम कामिक और शृंगारिक कविता का खुलेआम पाठ करेंगे। वहाँ उनके निर्ग्रन्थ दिगम्बरत्व को शूली पर चढ़कर सिद्ध होना पड़ेगा !...

...और नियत तिथि के एक प्रातःकाल, कर्नाटक की साम्राज्ञी राज-सभा का भवन, समस्त आर्यावर्त की प्रतिनिधि प्रजाओं से खचाखच भरा है। उसमें राजा, श्रेष्ठी, धुरन्धर धर्माचार्य, प्रकाण्ड पण्डित-मण्डल, अनेक वनचारी योगी-मुनि, राज-अन्तःपुरों की असूर्यम्पश्या रानियाँ और हजारों की संख्या में सर्वसाधारण स्त्री-पुरुष और बालक तक उपस्थित हैं। ऐसी ठसाठस मेदिनी कि उस पर थाली लुढ़कती चली जाए। और ऐसी उत्सुक निस्तब्धता व्याप्त है कि सुई तक गिरे तो सुनाई पड़ जाए।

सभा-भवन के बीचोबीच एक ऊँचे तख्त पर नग्न खड्ग के समान तेजोमान कवि-योगीश्वर आचार्य जिनसेन निश्चल कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। बालसूर्य की-सी रक्ताभ क्रान्ति का मण्डल उनकी पवित्र चन्दनी काया से प्रस्फुरित हो रहा है। वे मृग-शावक की तरह निर्दोष हैं : और मृगेन्द्र के समान प्रचण्ड प्रतापी हैं।

सम्राट् अमोघवर्ष सिंहासन त्यागकर, जानुओं के बल दण्डवत् मुद्रा में, श्रीगुरु-चरणों में आसीन हैं। पाण्डित्य प्रभाकर जयतुंगदेव भारत के चुनिन्दा पण्डित-परिकर के साथ, एक दूसरे ऊँचे तख्त पर सन्नद्ध बैठे हैं। हजारों आँखों की टकटकी, ठहरी हुई बिजली के समान विद्युत्-प्रभ जिनसेन पर लगी हुई है।

...और सहसा ही जैसे समुद्र-गर्भ में से गम्भीर शंखनाद सुनाई पड़ा :

"कैवल्य की विशुद्ध सौन्दर्य-प्रभा से जिनकी देह भास्वर है; करोड़ों सूर्य जिनमें एक साथ उद्योतमान हैं; नरकों की अकथ यातनाएँ, स्वर्गों के

निर्बाध सुख और मर्त्यलोक के सारे भोग, पराक्रम, संघर्ष और व्यथाएँ जिनके हृत्कमल में निरन्तर संवेदित हैं; त्रिलोक और त्रिकाल के अनन्त परिणमन जिनकी आत्मप्रभा में अनुक्षण तरंगित हैं; उन पूर्णकाम और परात्पर सुन्दर अर्हत् ऋषभदेव के चरणों में अपने अहं को निःशेष समर्पित करता हूँ।...

"आर्यावर्त सुनें, उसके पर्वत, समुद्र, नदियाँ, वन-कान्तार सुनें ! लोक के सकल चराचर सुनें ! हिमवान् सुनें ! समुद्रवलयित वसुन्धरा सुनें ! भारत के समस्त नर-नारीजन सुनें !...

"जिनसेन अपनी कविता की पुनरावृत्ति नहीं करता। उसकी कविता प्रतिपल नव-नूतन होती है। वस्तु-सौन्दर्य प्रतिक्षण परिणमनशील है। उसमें पल-पल नव-नव्य भाव और रूप प्रकट हो रहे हैं। जिनसेन उस निरन्तर परिणमन का नयनवोन्मेषशाली कवि है।

"भगवती माँ मरुदेवी अनन्त सुन्दरी हैं। अगाध और असीम है उनका रूप और लावण्य। महापुराण के कुछ श्लोकों पर वह सौन्दर्य समाप्त नहीं।...

"वे त्रिभुवन-मोहिनी माँ, प्रतिक्षण मेरी आँखों के सामने नितनव्य होकर प्रकट हो रही हैं। अभी, यहाँ, ठीक इस पल में वे माँ सत्ता के अनन्त समुद्र में से अँगड़ाई भरती हुई, एक अपूर्व लावण्य-प्रभा के साथ प्रकट हो रही हैं।..."

"अहा, शब्दों के एकदेश कथन में, माँ के इस अनन्त रमणी-रूप का वर्णन कैसे सम्भव है ? अनेकान्तिनी है उनकी रूप-विभा : नाना भावों, संवेदनों, भंगिमाओं, सम्बन्धों, सन्दर्भों में वे एक साथ व्यक्त हो रही हैं। काल से अतीत, वे अपने स्व-समय में एकबारगी ही रमणी हैं, माँ हैं, धात्री हैं, विधात्री हैं, वधू हैं, सबांगना हैं, उर्वशी हैं, तिलोत्तमा हैं, सर्वसंहारिणी हैं, संसारहारिणी—अरे वे क्या नहीं हैं : इन सबका वे सारांश हैं। इन सबका वे एकाग्र और पुंजीभूत रूप-विग्रह हैं। जिस प्राणी की जैसी चाह है जैसा भाव है, उसके अनुरूप वे उसकी चेतना के चषक में एकान्त अपनी होकर

भी ढल रही हैं।..."

"अहा, कैसी परम अनुग्रहवती हैं, अनुकम्पावती हैं, भगवती हैं भगवती मरुदेवी। कर्मभूमि के आद्य विधाता की जगदीश्वरी, परमेश्वरी जनेता ! अनुभव कर रहा हूँ, उन माँ की कृपा इस क्षण अमृत के समुद्र की तरह चारों ओर से उमड़कर मुझे नहला रही है। अपने निरावरण शुद्ध स्पर्श के जल से वे मेरे अणु-अणु को अभिसिंचित किये दे रही हैं।...अपनी अस्मिता और इयत्ता में रहना इस क्षण मेरे लिए सम्भव नहीं हो रहा है। मेरी समस्त वासना और चेतना उनके मातृत्व और रमणीत्व के संग तद्रूप तदाकार होकर उनकी अनुत्तर सौन्दर्य-मूर्ति के साथ लिंगातीत आलिंगित हो गयी है।..."

"ओ मेरी आत्म-सुन्दरी माँ, अपने अद्वैत के परिरम्भण से मुझे कुछ क्षण मुक्त करके द्वैत की जीवन-लीला में लौटा लाओ। ताकि तुम्हारा कवि आर्यावर्त के कोटि-कोटि भावुकों को, तुम्हारे सौन्दर्य के काव्य-गान से भावित कर सके।...

"सोलहों स्वर्गों के कमलवनों का सुवर्णिम परिमल-पराग तुम्हारी देह में रूपायमान हुआ है, माँ ! तमाम अप्सराओं और देवांगनाओं की सारभूत रूपमाधुरी तुम्हारे अंगांगों से झर रही है। तुम कल्पलताओं-सी लचीली, तन्वंगी, मनचाही, मनभायी, सर्वकामपूरन सुन्दरी हो, माँ ! तुम्हारी देह के परम वासना-कुल परमाणु, नारकीय और मानव प्राणियों की प्रतिपल की यातना, वेदना, करुणा से भी एकबारगी ही आलोड़ित, अनुकम्पित और भींजे हुए हैं, माँ। तुम्हारी परमकाम प्रीति के अमृत-रस में मृत्यु तक शरणागत हो गयी है।...

"अतल पाताल के सहस्रों वासुकी नागों के समान तुम्हारे तमाल-नील कुन्तलों में मोहनीय कर्म अपनी अवधि पर पहुँच गया है। पराजित हो गया है। उसके मोह-बन्धों की सारी ग्रन्थियाँ तुम्हारे केशों की मुक्त लहरों में खुल पड़ी हैं। भव की चिरन्तन मोहरात्रि यहाँ अनजाने ही स्वयं अपनी सीमा को अतिक्रान्त कर गयी है।

"तुम्हारे मुख-मण्डल की सौम्य सुवर्ण-आभा में, सारे सूर्यों, चन्द्रमाओं, ग्रह-नक्षत्रों की ज्योतियाँ समरस, संवादी, समंजस होकर व्याप्त हैं। तुम्हारे लिलार की केशरिया बिन्दी में त्रिकालवर्ती तीर्थंकरों के तेजोवलय अन्तर्लीन रूप से भास्वर हैं। तुम्हारे भ्रू-मध्य के तिलक में, वे निखिल के एकीभूत आकर्षण का केन्द्र बनकर स्तम्भित हैं।

"तुम्हारी भौंहों के तने हुए भृंगार धनुष, हमारे प्राणों को तीरों की तरह खींचकर, नाना काम्य वस्तुओं को बींधते रहते हैं। तुम्हारी आँखों के सर्वस्वहारी कटाक्ष, हमारे मनो-मदन के मर्मों को प्रतिपल अनुत्तर वासना से आलोड़ित करते रहते हैं। ऐसे आरतिदायक हैं इनके आघात, कि उनमें हमारी वासना चुक-चुक जाती है। तुम्हारी नासिका सुमेरु की तरह क्रमशः ऊपर उठती हुई स्वर्ग का तटान्त स्पर्श करती है। तुम्हारे ओष्ठाधरों में सर्व देश-काल के सहस्रदल कमलों के मार्दव, मकरन्द और सौरभ सम्पुटित हैं। इन ओष्ठों से वातावरण में निरन्तर चुम्बन प्रवाहित हो रहे हैं। उनकी मधुर परस-पेशलता रह-रहकर प्राणियों को एक अपूर्व आत्म चुम्बन के रस से आप्लावित कर देती है। तुम्हारे कपोलों में सहस्रों उर्वशियों के केलि-सरोवरों की रक्ताभ कान्ति झलमला रही है। प्रणयी युगलों के अब तक लिये-दिये गये सारे चुम्बन, तुम्हारी कपोल-पाली के मुस्कान-तटों से झाँक रहे हैं। तुम्हारी चिबुक की गोलाई में से जम्बूद्वीप पृथ्वी पर उतर आया है। तुम्हारी कम्बुग्रीवा की रेखाओं में जाने कितने जन्मों की ममताएँ उभर रही हैं। लोक-मध्य में त्रसनाड़ी के समान है तुम्हारी ग्रीवा का प्रदेश। उसके रेखा-पटलों में चारों निकाय के राशिकृत जीव ममताकुल होकर शरण खोज रहे हैं।

"ओ भुवनेश्वरी, तुम्हारे आलुलायित कुन्तल छाये कन्धों के अभ्यावन में मानो प्राण को अन्तिम अवलम्बन मिलता है। इन ऊष्मा-भरे कन्धों पर, जाने कितने आत्महारा पुरुषोत्तम अपने अहंकार को भूलकर, सर ढाल देने को व्याकुल होते हैं। तुम्हारे बाहुमूलों के सुगोपित गह्वरों में समुद्रों को भी अपने परिरम्भण में कसकर बाँध लेनेवाला कसाव कसकता रहता है।

तुम्हारी अंगूरी बाँहों के रभस-कातर मार्दव में ऐसा प्रगाढ़ दबाव, आश्वासन और विश्वास है कि चिरकाल की प्रणयार्त आत्माएँ उनके अन्तिम आलिंगन को तड़पती हैं। तुम्हारे पाणि-पद्मों और उँगलियों की दुलार-पुचकार से जड़-चेतन सृष्टि का कण-कण प्रतिपल फलकाकुल है।

"ओ निखिल की परमेश्वरी रमणी, तुम्हारे वक्षोजों के कुलाचल लोकालोक के गुरुत्वाकर्षण के ध्रुव केन्द्र हैं। सारी गतियाँ, प्रगतियाँ, प्रवाह, पौरुष, पराक्रम, प्रताप, विजयाकांक्षाएँ, चक्रवर्तित्व, ज्ञान, तप, तेज अपनी उपलब्धि की सीमा पर पहुँचकर भी जब प्यासे और विफलकाम होते हैं, तो वे तुम्हारे उरोज-मण्डल के अगाध में विसर्जित हो जाना चाहते हैं। त्रिलोकजय के दुर्दान्त अभिमानी पौरुष, आत्महारा होकर तुम्हारे स्तनों के गहराव में अपनी अस्मिता खोजते हैं।

"तुम्हारी नाभि की रत्न-वापिका में उच्चाटित और उन्मूलित आत्माएँ अपने अस्तित्व का मूल पाना चाहती हैं। तुम्हारी लचकीली कटि की तनिमा में रति सदा मृणाल के हिण्डोले झूल रही है। तुम्हारी त्रिवली के रेखा-वलयित त्रिकोण में कुलाचलों की अभेद्य अरण्यानियाँ एक दुर्भेद्य दुर्ग की रचना किये हुए हैं।...तुम्हारे ऊरुद्वय के सन्धि-मूल में वह अगम्य और अनतिक्रम्य चरम गुहा है, जिसके सुकाठिन्य, मार्दव और समाहिति में स्पर्श-सुख अपने अन्त पर पहुँचकर, अनन्त की खोज में निकल पड़ता है। उस गुहा के अतल सरोवर में जो असंख्यात नील पाँखुरियोंवाला श्रीकमल है, उसी में से यह अनादि अनन्त सृष्टि प्रवाहित है। अज्ञानी उस गुहा के परिसरवर्ती तमसारण्य में चिरकाल अशम्य प्यास की पीड़ा भोगते हुए भटकते रहते हैं। केवल परमज्ञानी पुरुष उस गुहा के अतलान्तों का भेदन कर, लोकशीर्ष के सिद्धाचल पर आरोहण कर जाते हैं।

"तुम्हारे पृथुल नितम्बों के उभारों में सुमेरु-पर्वत दोलायमान है। तुम्हारे प्रलम्ब ऊरु-युगल की स्निग्ध भुजंगम घाटियों में मोह-मदिरा की ऐसी गहरी कादम्ब-वापियाँ हैं, कि उनमें डूबकर, उन्हें पीकर आपा खो जाता है। रति का सुख वहाँ समाधि के सुख की सीमा स्पर्श करता है।

उस मदिर मूर्च्छा में, जो आत्महारा न होकर, आत्मलीन होने की सामर्थ्य रखता है, वही तुम्हारी गोद के कमलासन पर युग-सूर्य तीर्थंकर होकर उदय होता है। ओ आत्म-विमोहिनी रमणी-माँ, परम परमेश्वर भगवान् ऋषभदेव तुम्हारी वारुणी के उस समुद्र को तैर गये थे, इसी से तुम्हारे ऊरु-तट पर वे कैवल्य-सूर्य होकर उत्तीर्ण हुए थे : अवतीर्ण हुए थे।

"...तुम्हारे जानु-युगल की सन्धि पर प्राणियों की भव-रात्रि या तो अभेद्य हो उठती है, या सहसा ही फट पड़ती है। तुम्हारे जघनों में एक साथ चेतना के आरोहण और अवरोहण की आवाहन-भरी नसैनियाँ हैं। हे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की जनेता और अभय-शरणदात्री माता, तुम्हारे श्रीचरणों के पद्म-संचार से प्रतिपल नव्य-नूतन सृष्टियों की ऊषाएँ फूटती रहती हैं। मृत्यु के भवारण्य में जी रही राशि-राशि जीव-योनियों को तुम्हारे पाद-स्पर्श से अज्ञात, अबूझ अमरत्व का आश्वासन प्राप्त होता रहता है।...

"ओ सर्व की परम काम्या, आत्म-रमणी माँ, अपने कवि जिनसेन को अपनी श्रीकमल गोद में उत्संगित कर, चरम आलिंगन और परम मुक्ति का सुख एक साथ प्रदान करो।...ओ मेरी आत्मा...माँ...माँ...माँ...!"

...और सहसा ही कवि निर्वाक् हो गये।...परावाक् हो गये। वे महाभाव की परात्पर रस-समाधि में अन्तर्लीन हो गये।...एक विराट् और अखण्ड निस्तब्धता मानो दिगन्तों तक व्याप गयी। विश्व की सारी गतियाँ जैसे एकाएक विराम पा गयीं। अपने आपमें परिणमनशील विशुद्ध, अद्वैत महासत्ता के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी शेष नहीं रह गया। आराधक और आराध्य, वक्ता और श्रोता, कवि और भावक एक अभेद नीरवता में तदाकार हो गये।...

...हजारों-हजारों आँखों की एकाग्र अपलक दृष्टि ने देखा : उस बीच के ऊँचे तख्ते पर एक अतिक्रान्त नग्न पुरुष निश्चल, निर्विकार कायोत्सर्ग मुद्रा में लीन है। वह एकबारगी ही निरा निर्मल शिशु है : और निरतिशय कामेश्वर है।...और सबके अन्तश्चक्षुओं में झलका एक सर्वरमण दिगम्बर

पुरुष, एक सर्वरमणी दिगम्बरी माँ की गोद में उत्संगित है।...

...उसके पाद-प्रान्तर में आर्यावर्त की सहस्रों सुन्दरियों के आँसू-भींगे नयन और दूध भीने आँचल मानो उसे झेलने को बिछ गये हैं।...

सर्वशास्त्रों के पारावार, पाण्डित्य-प्रभाकर जयतुंगदेव अपनी समस्त पण्डित-मण्डली के साथ, सर्वहारा होकर इस ब्रह्मर्षि जिनसेन के चरणों में ढलक पड़े।

और सहस्र-सहस्र मानव-मेदिनी समुद्र में मिलने को आकुल नदियों की तरह, भगवान् जिनसेन के चरण-कमलों की ओर उमड़ती चली आयी।...

...सम्राट् अमोघवर्ष जाने कब, जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये...!

और आर्यावर्त का सूना साम्राजी सिंहासन, जाने किसी की प्रतीक्षा में विस्तीर्ण होता चला जा रहा था...?

(2 नवम्बर, 1973)